गुरुत्तं

भाग-17

(बारह भावना)

प्रवचनकार

आचार्य श्री वसुनंदी जी मुनिराज

जिनशासन नायक भगवन् महावीर स्वामी के 2550वें निर्वाण महोत्सव पर परम पूज्य राष्ट्र हितैषी संत, अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री वसुनंदी जी मुनिराज द्वारा वी. नि. सं. 2550-2551 (सन् नव. 2023-नव. 2024) को **''अहिंसकाहार वर्ष''** के रूप में उद्घोषित किया गया। इसी **''अहिंसकाहार वर्ष''** के उपलक्ष्य में प्रकाशित

कृति : गुरुत्तं भाग-17 (बारह भावना प्रवचन)

मंगल आशीर्वाद : परम पूज्य सिद्धान्त चक्रवर्ती राष्ट्रसंत आचार्य श्री 108 विद्यानन्द जी मुनिराज

कृतिकार : आचार्य श्री वसुनंदी जी मुनिराज

सम्पादन : आर्यिका वर्धस्वनंदनी

संस्करण : प्रथम (सन् 2023)

प्रतियाँ : 1000

मूल्य : सदुपयोग

प्रकाशक : निर्ग्रन्थ ग्रंथ माला समिति (रजि.)

ISBN : **978-93-94199-85-9**

प्राप्ति स्थल : ई. 16 सैक्टर 51, नोएडा-201301
मो. 9971548889, 9867557668, 880009125

मुद्रक : मित्तल इंडस्ट्रीज़, नई दिल्ली
मो. 9312401976

Visit us @ www.acharyavasunandi.com

संपादकीय

तवारोढुं प्रवृत्तस्य भुवनेर्भवनमुन्नतम्।
सोपानराजिकाऽमीषां पादच्छाया भविष्यति॥''5/18''

—ज्ञानार्णव

मुनि-परमेष्ठियों की चरण कान्ति का अनुसरण करते हुए भव्य जीव मुक्ति मंदिर तक जा सकेंगे इसमें कोई संदेह नहीं है।

विशुद्ध, ज्ञानामृत का पान करने वाले, संसार जनित सुखों से निःस्पृह, मोक्षमार्गानुरागी, मेरुवत् अचल, आकाशवत् निर्मल, जिनेन्द्र मुद्रांकित, करुणा सागर महाव्रती जहाँ-जहाँ पदविन्यास करते हैं, वहाँ-वहाँ ज्ञान से लोक को संपन्न करते हैं। वह समस्त क्षेत्र धन्य-धन्य क्षणों से आविर्भूत हो जाता है, सर्वोदय तीर्थ का विस्तार होता है, मानव हृदयों में सद्धर्म की दृढ़ता प्रादुर्भूत होती है। निर्ग्रन्थ गुरुओं के वचन युक्ति, आगम, तर्क तथा सौहार्द भाव से, भव्यों के मिथ्यात्व अंधकार को नष्ट कर उन्हें सम्यक्त्व में प्रतिष्ठित कर देते हैं।

गुरु वचन ही दया रूपी जल से सिक्त, सर्व मनोवांछितों के प्रसविता, कल्याण के एक मात्र कारण धर्म-कल्पवृक्षों की स्थापना जन मानस के हृदयों में करने में समर्थ हैं। जीवन रूपी भवन की नींव यदि गुरु वचन हों तो उस भवन को कोई आंधी नहीं गिरा सकती। गुरु वचनों का अनुपालन जीवन को शांतिमय बना देता है। जीवन में आत्मसात् गुरु प्रदत्त शिक्षा, संस्कृति, विद्या, धर्म व शिष्टाचारादि से मानव, समाज में तिलकायित बन जाता है।

बारह अनुप्रेक्षाएँ जिन्हें बारह भावनाओं के नाम से भी जाना जाता है, वैराग्य की जननी कहलाती हैं। अनित्यादि भावनाओं का चिंतन संसार, शरीर, भोगों से विरक्ति का कारण है। डीजल-पैट्रोल के कूपों से परिपूरित, अनेक शुष्क वनों से समाकीर्ण वन, जहाँ सामान्य प्राणियों का आवागमन दुर्गम है; उसे अग्नि की एक चिंगारी भी जिस प्रकार नष्ट कर देने में समर्थ है उसी प्रकार बारह भावनाओं का चिंतन भी सर्व कर्मों को भस्म करने में समर्थ होता है।

जिस प्रकार एक माँ अपनी संतान की सर्व कष्टों से रक्षा करती है उसी प्रकार द्वादशानुप्रेक्षा भव दुःख से जीव की रक्षा करती हैं। जिस प्रकार समरस्थल में योद्धा का कवच अनेक तीक्ष्ण प्रहारों से उसकी रक्षा करता है उसी प्रकार द्वादशानुप्रेक्षा सांसारिक विघ्न परंपरा से रक्षा करती हैं।

प्रस्तुत पुस्तक **'गुरुत्तं भाग-17'** परम पूज्य राष्ट्र हितैषी संत, अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य गुरुवर श्री वसुनंदी जी मुनिराज के द्वादशानुप्रेक्षाओं पर दिए गए प्रवचनों का संकलन है। अनुप्रेक्षा का मर्म आचार्य भगवन् के शब्दों में परिलक्षित होता है। अनित्यादि भावनाओं का चिंतन संसार-शरीर-भोगों से विरक्ति प्रदान करता है। यथार्थता का बोध भी इन अनुप्रेक्षाओं के चिंतन से ही होता है। जीवन में समरसता का प्रादुर्भाव भी इनके माध्यम से ही होता है।

आचार्य श्री ने जहाँ पारिवारिक, सामाजिक, सैद्धांतिक आदि विषयों पर अपने प्रवचन दिए वहीं आध्यात्म के सोपान स्वरूप द्वादशानुप्रेक्षाओं पर प्रवचन देकर जनसमूह को निज पादपद्मों का भ्रमर स्वरूप ही बना दिया। आचार्य श्री के वैदुष्य की लौ से यह समस्त विश्व उज्ज्वल व

प्रकाशित है। प्राकृत ग्रंथों का लेखन करते हुए उनमें आ. भगवन् श्री कुंदकुंद स्वामी, आ. श्री वीरसेन स्वामी जैसे आचार्यों की छवि परिलक्षित होती है तो प्रवचन के समय उनमें आचार्य भगवन् श्री समंतभद्र स्वामी, आ. श्री अकलंक देव स्वामी के वाद-विवाद के समय का अद्भुत कौशल दिखाई पड़ता है।

आचार्यश्री के मीठे प्रवचनों से परिचित जन समुदाय उनकी अद्भुत सरल-सुबोध-दृष्टांत वा उदाहरण शैली से अत्यंत प्रभावित एवं उसके समक्ष नतमस्तक भी है। आचार्य गुरुवर की विशेषता है कि वे किसी भी एक चीज को समझाने के लिए एक के बाद एक श्रेष्ठ उदाहरण देते हैं जिससे विषय सरलतापूर्वक, श्रोताओं को हृदयंगम हो जाता है। संभवत: इसलिए आचार्यश्री के प्रवचन आबाल वृद्ध सभी के लिए सुरुचिकर एवं सरल प्रतीत होते हैं।

पुस्तक के पाठकों का कहना है कि उन्हें जीवन संबंधी समस्त समस्याओं का निदान इन पुस्तकों में मिल जाता है। पाठकों की अभिरुचि एवं मांग के कारण ही हम गुरुत्तं के 16 भाग प्रस्तुत करने के पश्चात् अब 17वां भाग भी आप सभी तक पहुँचाने में सफल हुए हैं। निश्चित रूप से इन पुस्तकों का अध्ययन मन: विशुद्धि व आनंद का कारण है। कई बार तो इन्हें पढ़ते हुए ऐसा प्रतीत होता है मानो साक्षात् आचार्य भगवन् के शब्द ही कर्णों में गुंजायमान हो रहे हों।

यद्यपि इस पुस्तक में हमारा किंचित् भी कुछ नहीं है तद्यपि पूज्य आचार्य गुरुदेव के आशीर्वाद से उनके शब्दों को यथातथ्य आप सभी तक पहुँचाने का प्रयास हम कर रहे हैं। यदि इस कृति के संपादन में हमारे प्रमाद वा

अल्पज्ञतावश यत्किंचित् भी त्रुटि रह गई हो तो सुधी पाठक नीर-क्षीर-विवेकी हंसवत् गुणग्राहक दृष्टि बनाकर क्षीर रूपी गुणों का अवग्रहण करें और सारहीन नीर का परित्याग करें। संभव है आपका आनंद, संतोष, हित मार्ग संप्राप्ति और कल्याण हमारे परिणामों में विशुद्धि व आनंद का निमित्त बन सके।

इस पुस्तक की पांडुलिपि तैयार करने में आर्यिका श्री यशोनंदनी माता जी का महनीय श्रम श्लाघनीय है। पुस्तक के मुद्रण, प्रकाशन एवं सहयोगी सभी धर्मस्नेही बंधुओं को पूज्य गुरुवर श्री का मंगलमय शुभाशीष।

आचार्य गुरुवर का संयम पथ सदैव आलोकित रहे, शताधिक वर्षों तक यह वसुधा गुरुवर श्री के तप, ज्ञान, साधना से सुरभित रहे। परम पूज्य राष्ट्र हितैषी संत, अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य गुरुवर श्री वसुनंदी जी मुनिराज के चरणों में सिद्ध, श्रुत, आचार्य भक्ति सहित कोटिशः नमन।

सर्वेषां मंगलं भवतु

श्री शुभमिति कार्तिक कृष्ण अष्टमी ऊँ अर्हं नमः

श्री वीर निर्वाण संवत् 2549 **आर्यिका वर्धस्वनंदनी**

रविवार-5.11.2023

श्री पार्श्वनाथ दिगंबर जैन मंदिर

ग्रीनपार्क दिल्ली

अनुक्रमणिका

क्र.सं.	विषय	पृष्ठ सं.
1.	बारह भावना : एक परिचय	9
2.	अनित्य अनुप्रेक्षा	25
3.	अशरण अनुप्रेक्षा	59
4.	संसार अनुप्रेक्षा	91
5.	एकत्व अनुप्रेक्षा	121
6.	अन्यत्व अनुप्रेक्षा	149
7.	अशुचि अनुप्रेक्षा	175
8.	आस्रव अनुप्रेक्षा	199
9.	संवर अनुप्रेक्षा	221
10.	निर्जरा अनुप्रेक्षा	241
11.	लोक अनुप्रेक्षा	261
12.	बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा	285
13.	धर्म अनुप्रेक्षा	309
14.	बारह भावना : उपसंहार	335

जिणवाणी-थुदी

महुरं विसदं पिय-गंभीरं
हिदयरं मिदं सिरिजिणवाणिं।

अणेगंतमयं सिआवायमयं
णिरुवमं समं सिरिजिणवाणिं।

जिणसव्वंगादो णिस्सरिदं
भविचित्तहरं सिरिजिणवाणिं।

बारस-अंगेहिं संजुत्तं
लोएपुज्जं सिरिजिणवाणिं।

कंठादिवचोकारणरहिदं
तयरोयहरं सिरिजिणवाणिं।

जगमंगल्लं जगकल्लाणिं
पणमामि सया सिरिजिणवाणिं।

बारह भावना : एक परिचय

जाए सद्गति मुक्तिपुर, जो नित भावन भाए।
जिनने भायी भा रहे, उनको शीश नवाएँ॥
उनको शीश नवाएँ, भावना भाने हेतू।
वैराग्य से वीतरागता का ये सेतू॥
कहे सूरि वसुनंदि, भावना बारह भाए।
क्रमशः चढ़ सोपान, ईश जग का बन जाए॥

बारह भावना : एक परिचय

महानुभाव!

संस्कृत में धातुरूपावली का एक शब्द है 'भू'। 'भू' शब्द के रूप जब वर्तमानकाल में चलाते हैं तो भवति-भवतः-भवन्ति आदि बनते हैं। जो भू धातु है उसका भव बनता है जिसका अर्थ है 'होना'। भू धातु का अर्थ भी होता है 'होना'। एक 'कृ' धातु होती है जिसका अर्थ होता है 'करना'। होना और करना दो अलग-अलग चीज हैं। होना सहज परिणति है और करना यह वैभाविक द्रव्यों की परिणति होती है। जो करना है वह विभाव रूप से किया जाता है किन्तु स्वभाव में मात्र होना ही होता है। 'भव' शब्द का अर्थ आपने देखा–होना, उससे बनता है 'भव्य'। 'तव्यत्' प्रत्यय लगाने से उसका अर्थ होता है 'होने के योग्य'। जो होने के योग्य है वह भव्य है किन्तु भव्य में होने के योग्य क्या है? तो भव्य में होने के योग्य हैं 'भाव' और भावों के द्वारा बनता है 'भव'। भव में भाव होते हैं, भावों से भव बनता है। प्रत्येक जीव का जो वर्तमान समय होता है उस वर्तमान पर्याय व दशा को कहते हैं भाव और उन वर्तमान भावों का समूह जिस द्रव्यपर्याय के निमित्त से होता है उस द्रव्यपर्याय का नाम है 'भव'। जैसे नरकभव, मनुष्यभव, देवभव, तिर्यंचभव।

महानुभाव! भाव शब्द का अर्थ हुआ वर्तमान पर्याय। वर्तमान में भी कहें तो वह वर्तमान जिसमें क्रिया चल रही

है भाव की परिभाषा आचार्य भगवन् श्री पूज्यपाद स्वामी जी जिनका अपरनाम देवनंदी जी महाराज भी है उन्होंने तत्त्वार्थ सूत्र की टीका में लिखा है–

'वर्तमानपर्यायोपलक्षितः भावः' वर्तमान पर्याय से जो उपलक्षित होता है वह भाव कहलाता है। द्रव्य शाश्वत है, त्रैकालिक है, भूतकाल में भी था, वर्तमानकाल में भी है, भविष्यकाल में भी रहेगा; किन्तु भाव बदलते रहते हैं नदी की लहर की तरह से। नदी में लहर उठ रही है पुनः डूब रही है तरंगों की उथल-पुथल ये भाव हैं। नदी की उठती हुई लहर को कैमरे के माध्यम से लेना चाहें तो एक क्षण की पर्याय उसमें ग्रहण हो जाएगी किन्तु नदी का पानी अभी भी है, पहले भी था और आगे भी रहेगा, वह द्रव्य है, किन्तु वह द्रव्य एक पर्याय से युक्त नहीं होता, उस द्रव्य में अनेक पर्याय होती हैं अर्थात् उस द्रव्य में अनेक प्रकार का परिणमन होता है। उस परिणमन का नाम ही है पर्याय, उसे ही कहते हैं भाव।

दूसरी बात है, हमें कौन से भाव चाहिए, जैसे भाव चाहिए वैसी भावना भायी जाती है। भावना भाव के अभाव की प्रतीक है। जिसे प्राप्त करने की हम सोच रहे हैं अर्थात् वह प्राप्त नहीं हुआ तो समझो उसकी भावना चल रही है। अभी भाव ना अर्थात् अभी भाव नहीं हैं। जैसे कोई व्यक्ति सिद्ध बनने की भावना भा रहा है तो इससे सिद्ध होता है कि अभी वह सिद्ध बना नहीं। एक कुम्भकार मृतिका के माध्यम से घट बनाने की भावना भा रहा है इससे

सिद्ध होता है घट अभी बना नहीं, इस मिट्टी से वह घड़ा बनाएगा। एक विद्यार्थी अच्छे नंबरों से पास होने की भावना भा रहा है इससे सिद्ध होता है उसने अभी परीक्षा दी नहीं: पढ़ाई कर रहा है किन्तु पढ़कर अच्छे नंबर लाएगा। एक उद्योगपति अधिक पैसे कमाने की भावना भा रहा है इससे सिद्ध होता है उसने अभी पैसा अधिक कमाया नहीं। एक योगी कर्मों से मुक्त होने की भावना भा रहे हैं इससे सिद्ध यही हुआ वे योगी अभी कर्मों से मुक्त हुए नहीं।

भावना का अर्थ है उन भावों को प्राप्त करने के लिए अनवरत रूप से की गई चेतना की परिणति। वह परिणति साधकतम कारण होती है उन भावों को प्राप्त कराने में, उसके लिये और साधन भी सहयोगी हो सकते हैं किन्तु भावना व्यक्ति जिस प्रकार की भाता है उसी प्रकार के भावों को उपलब्ध हो जाता है। द्रव्य में वैसी-वैसी परिण ाति शनैः शनैः होने लगती है। व्यक्ति पुण्यकर्म की भावना भाता है तो पुण्यकर्म का बंध होता है; पुण्यकर्म के बंध से वह पुण्यात्मा कहलाता है फिर पुण्य उदय में आता है, इससे सिद्ध होता है पहले पुण्य की भावना भायी बाद में पुण्यात्मा बना। किसी ने पाप की भावना भायी तो वह पापात्मा हो गया, धर्म की भावना भायी तो वह धर्मात्मा हो गया। यदि बहिर्भूत पदार्थों में आत्मा को एकमेक मान लेता है तो बहिरात्मा हो गया। आत्मा व शरीर का भेद विज्ञान जिसने जान लिया है तो वह अन्तरात्मा हो गया और जिसकी आत्मा परम विशुद्ध दशा को प्राप्त हो गई वह आत्मा परमात्मा हो गया।

उस परमात्मा के भी दो भेद हैं–सकल परमात्मा और निकल परमात्मा। शरीर से सहित है तो सकल परमात्मा, शरीर से रहित है तो निकल परमात्मा। किन्तु कोई भी व्यक्ति भावी पर्याय को तब तक प्राप्त नहीं करता जब तक उसके पहले वैसी भावना नहीं भा लेता। भावना कारण है भाव कार्य है। कोई भी आम का पेड़ आम की गुठली के बिना पैदा नहीं होता। चाहे कोई भी पेड़ हो वह उसी के बीज से पैदा होता है। यूँ कह सकते हैं आत्मा तो एक खेत की तरह से भूमि है तथा भावना उस भूमि में बोया गया बीज है और भाव उस तरह के वृक्ष की संप्राप्ति है। व्यक्ति जैसी भी भावना भाता है उसी प्रकार का होता चला जाता है। अतः आप जीवन में भावना भाना प्रारंभ कर दो। कैसी भावना? जैसा बनना चाहते हो वैसी भावना भाओगे तो विश्व की कोई भी शक्ति तुम्हें वैसा बनने से रोक नहीं सकती। या तो भावना भा नहीं पाओगे और यदि भा लोगे तो कोई भी शक्ति तुम्हें रोक नहीं पाएगी। कहते हैं–

जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरत देखी तिन तैसी॥

प्रभु की मूर्ति जो जैसी भावना से देखता है उसे प्रभु वैसे ही नजर आते हैं। सामने वाले व्यक्ति के प्रति अपनी अच्छी-बुरी भावनाएँ तदनुरूप ही अपने समक्ष प्रस्तुत होती हैं। अँधेरे में यदि कोई डर रहा है, अरे! भूत नहीं आ जाए, अरे! भूत नहीं आ जाए तो उसे ठूंठ का भी भूत दिखाई देता है और किसी के सामने भूत भी आ जाए तो वो कहेगा अरे भाई! काहे का भूत? कुछ नहीं है। हो सकता है उसमें निर्भीकता आ जाए, कदाचित् सचमुच में भूत आ भी जाए

तो उसकी निर्भीकता देखकर भाग भी जाए। भावना बहुत बलवान् होती है। इसलिए आचार्यों ने, ऋषियों ने, मुनियों ने एक बहुत अच्छा शब्द कहा है–

''भावना भववर्धिनी, भावना भवनाशनी।''

संसार का कोई भी व्यक्ति बिना भावना के संसार का संवर्धन नहीं कर सकता है और संसार का कोई भी व्यक्ति बिना भावना के संसार का अन्त नहीं कर सकता। भावना से ही भव का अंत है, भावना से ही भव का संबंध है और भव का प्रबंध है, भावना के माध्यम से ही भव का विच्छेद है। भावना के संबंध में आपने बहुत कुछ सुना होगा कि व्यक्ति कैसे भावना भाता है। आपने आगम ग्रंथ में पढ़ा-सुना होगा–

एक पद्मरुचि सेठ जिसने एक मरणासन्न बैल को कल्याण की भावना से णमोकार मंत्र सुनाया, वह पद्मरुचि सेठ भावना भाता हुआ स्वयं के कल्याण को भी प्राप्त हुआ और जिस मरणासन्न बैल ने भावना भायी थी वह भी कल्याण को प्राप्त हुआ। पद्मरुचि सेठ जिस भव से कल्याण को प्राप्त हुआ था उस समय भी उसका नाम पद्म ही था, आज वर्तमानकाल में उनका नाम श्रीराम आता है। और जो बैल का जीव था उसका नाम हुआ सुग्रीव। तीर्थंकर प्रभु भी भावना के माध्यम से बनते हैं, तपस्या के माध्यम से कोई तीर्थंकर नहीं बनता, त्याग से कोई तीर्थंकर नहीं बनता और कोई भी बड़े-बड़े कार्य दान, पूजा, प्रतिष्ठा करने से तीर्थंकर नहीं बनता यदि भावना नहीं है तो। तीर्थंकर बनता है भावना

से, वे 16 प्रकार की भावना भाते हैं। जिस प्रकार धनुष में सप्तरंग होते हैं; जब सातों रंग एक साथ होते हैं तब वह सतरंगी धनुष आकाश में दिखाई देता है। ऐसे ही तीर्थंकर बनने के लिये 16 भावना चाहिए। इसमें सबसे अच्छी बात तो ये है जहाँ दर्शनविशुद्धि भावना होती है वहाँ शेष 15 भावना भी आ जाती हैं। कोई भावना विशेष होती है कोई कम हो सकती है किन्तु होती अवश्य है। दर्शनविशुद्धि का आशय केवल आप इतना नहीं समझ लेना कि सम्यग्दर्शन का निर्दोष पालन कर लेना, सम्यग्दर्शन का निरतिचार पालन कर लेना, यह अर्थ नहीं है दर्शनविशुद्धि का। दर्शनविशुद्धि का अर्थ तो ये होता है कि दृष्टि में विशुद्धि आ जाना। कौन सी दृष्टि में? आत्मकल्याण के पूर्व परकल्याण की भावनारूप दृष्टि में ये भावना आ जाना कि मैं संसार के प्राणियों का किस प्रकार कल्याण कर सकूँ। हे प्रभु! ऐसी शक्ति प्राप्त हो जाए। मैं आँख बंद करके जब ध्यान में बैठता हूँ तो संसार के सभी जीव मुझे दिखाई देते हैं कोई नरक में हैं, कोई तिर्यंचगति में है, कोई मनुष्य गति में है, वे सभी मिथ्यात्त्व में पड़े हैं, अज्ञान में पड़े हैं, असंयम को अच्छा मान रहे हैं, उनकी आत्मा पर तीन सघन अंधकार हैं, वे अपने आत्मतत्त्व को देख नही पा रहे, आत्मा का उन्हें बोध नहीं हो पा रहा, वे बेचारे अनभिज्ञ हैं उन जीवों का कल्याण कैसे हो? हे भगवन् सबका कल्याण हो जाए, मेरा भी कल्याण हो। भगवन् मुझे ऐसी शक्ति प्राप्त हो जाए कि मैं उनका कल्याण करने में समर्थ हो जाऊँ। जैसे माँ

अपने बेटे पर दया-करुणा का भाव रखती है, कभी-कभी तो बेटे के दु:ख में माँ की आँखें गीली हो जाती हैं, यह केवल मनुष्य की बात नहीं कह रहे, पशु-पक्षी तक में देखा है कि पशु-पक्षियों के बच्चे दु:खी हैं तो उनकी माँ दु:खी हो जाती है यदि पशु-पक्षी के बच्चे आनंदित हैं तो उनकी माँ भी आनंदित होती है। ऐसे ही जब पुरुष के मन में दूसरों के कल्याण की भावना इतनी तीव्र हो जाए कि उसके अंतरंग में संक्लेशता बनने लगे। आचार्य भगवन् श्री अकलंक स्वामी जी ने इसे संक्लेशतम दया के नाम से संबोधित किया है कि जो कोई भी तीर्थंकर बनते हैं उनके जीवन में जब तक परकल्याण रूप भावना इतनी तीव्र न हो कि वह दया संक्लेशता का रूप ले ले तब तक तीर्थंकर प्रकृति का बंध नहीं होता।

महानुभाव! सब कुछ भावना के माध्यम से होता है, यदि भावना के माध्यम से न हो तो व्यक्ति भावना क्यों भाये? भावना का क्या प्रभाव पड़ता है एक रूपक के माध्यम से आपको बताता हूँ। किसी नगर में एक चंदन का व्यापारी रहता था, उसके पास बहुत चंदन था, वह सोच रहा था कि चंदन का दाम बढ़ जाए तो मेरा बहुत अच्छा मुनाफा होगा, किंतु चंदन का भाव बढ़े कैसे? कुछ समझ में नहीं आया। उसकी कुबुद्धि ने उसे बताया कि किसी पुण्य पुरुष का यदि देहान्त हो जाए तो उसे दहन करने के लिये चंदन की लकड़ी का प्रयोग किया जाता है। वह पुण्य पुरुष कौन हो सकता है? वह सोचने लगा यदि अपने देश का राजा

मर जाए तो मेरी चंदन की लकड़ी खूब बिकेगी, क्योंकि हर व्यक्ति चंदन की लकड़ी का कम से कम एक-एक टुकड़ा तो राजा की चिता में डालने जाएगा, क्योंकि राजा की अर्थी निकलेगी उसकी चिता मे जलाने के लिए चंदन की लकड़ी लेकर जाएगा तो उस समय कोई मोल भाव नहीं करेगा, जितना पैसा मैं माँगूगा व्यक्ति उतना ही पैसा मुझे देकर के जाएगा। और हजारों व्यक्ति जाएँगे इससे मेरी चंदन की लकड़ी अच्छे भावों में बिक जाएगी, ऐसा वह व्यापारी सोच रहा था।

एक दिन राजा की सवारी नगर से निकली। संयोग की बात राजा को सामने बैठा वह चंदन का व्यापारी दिखा, उसे देखकर के राजा के मन में उसके प्रति कुछ बुरे भाव हुए कि ये व्यक्ति ठीक नहीं है। राजा ने सारथी को संकेत किया कि रथ को रोको। मंत्री भी साथ में था, राजा ने मंत्री से पूछा–मंत्री जी मैं ये जानना चाहता हूँ कि ये व्यक्ति कौन है इसे देखकर के अचानक मेरे परिणाम खराब हो रहे हैं इसका क्या कारण है जबकि मैं इसे जानता तक नहीं। मंत्री ने कहा–राजन्! चिंता ने करें मैं इसका पता लगाता हूँ। मंत्री उस चंदन व्यापारी के घर गया वहाँ जाकर उसका हाल-चाल पूछा, कहा–क्या करते हो? बोला-चंदन का व्यापार करता हूँ। मंत्री ने कहा अरे! चंदन का व्यापार तो अभी बहुत मंदा चल रहा है तुम अपना गुजारा कैसे करते होंगे, क्या तुम इसी चिंता में तो नहीं डूबे? इतना सुनना ही था कि व्यापारी ने अपना हृदय खोलकर रख दिया

कहा–यदि आप मुझे क्षमा करें तो मैं अपने हृदय का सत्य हाल आपसे कह दूँ। मंत्री ने कहा–मैं आपको क्षमा प्रदान करता हूँ अपने मन की बात कहो क्या कहना चाहते हो। वह बोला–मंत्रिवर सत्य बात तो यही है कि मेरे मन में बुरा भाव आ गया था, मै सोच रहा था कि यदि राजा की मृत्यु हो जाए तो मेरा चंदन बहुत बिकेगा। मंत्री ने कहा–कोई बात नहीं, तुम्हें अपनी चंदन की लकड़ी ही तो बिकवानी है, यही चाहते हो न, तो इसके लिये एक अच्छा उपाय है।

महाराज चर्चा कर रहे थे कि अपने देश में महायज्ञ होना चाहिए, उस धर्मानुष्ठान में चंदन की लकड़ी चाहिए। वह बोला ठीक है मंत्री जी, आपने तो मेरे प्राण बचा लिये, वह उनके चरणों में गिरकर क्षमा माँगता है। इधर मंत्री राजमहल में राजा के पास पहुँचता है कहता है–महाराज! उस व्यापारी का मैंने पता लगाया तो ऐसी कोई खास बात नहीं है, वह तो ऐसे ही सामान्य व्यवसायी है वह भावना भा रहा है कि महाराज ने बहुत दिनों से कोई अनुष्ठान नहीं किया। पहले महाराज थे तो वे धर्म का अनुष्ठान कराते रहते थे, अभी कब से अनुष्ठान नहीं हुए। महाराज! क्यों न हम कोई अनुष्ठान करें। राजा ने कहा–मंत्री जी आप ठीक कहते हैं, और राजा ने महायज्ञ के आयोजन की घोषणा करवा दी जिसमें नगर के सभी लोगों का सम्मिलित होना आवश्यक था। उस महायज्ञ में घी, चंदन और भी दश प्रकार की गंध अगर-तगर आदि की व्यवस्था करवायी गई। जिन-जिन व्यापारियों के पास जितना भी चंदन था वह सारा चंदन

राजदरबार में आ गया, हवन की सम्पूर्ण सामग्री एकत्रित की गई। चंदन के सभी व्यापारियों का चंदन उचित मूल्य में खरीदा गया इससे उनके मन में राजा के प्रति भावनाएँ हुईं कि हमारा राजा चिरंजीवी रहे।

एक दिन पुनः राजा की सवारी निकली तो वहीं चंदन का व्यापारी राजा के सामने आया, उसे देखकर राजा के मन में भाव आया मंत्री जी इसका सम्मान करना चाहिए, मंत्री ने सम्मान के लिये उसे बुलाया, उस व्यापारी से पूछा–तुम्हारे मन में क्या भावना चल रही है, वह बोला महाराज! बस यही भावना चल रही है कि हमारा राजा दीर्घजीवी रहे, जिससे यावज्जीवन इसी प्रकार यज्ञ आदि कराता रहे और हमारा व्यापार अच्छा चलता रहे। मंत्री ने कहा–राजा आपसे बहुत प्रसन्न हैं, आपका सम्मान कराना चाहते हैं और उस व्यापारी का यथायोग्य सम्मान हुआ।

महानुभाव! यहाँ हमें इतना तथ्य ग्रहण करना है कि जब व्यापारी के मन में बुरी भावना आयी तो राजा के मन में भी बुरी भावना आयी, जब मंत्री ने अपनी बुद्धि और युक्ति के माध्यम से व्यवसायी की भावना को शुद्ध कर दिया और उसका चंदन बिक गया इससे उसकी भावना राजा के प्रति अच्छी आयी तो राजा के मन में भी उसके प्रति अच्छी भावना आयी।

महानुभाव! हमारी भावना का प्रभाव सामने वाले पर पड़ता है, यह टेलीपैथी होती है। 'रैकी' एक उपचार करने की पद्धति होती है जिसमें भावनाओं से संप्रेषण दिया

जाता है, व्यक्ति को भावनाओं से संबोधित किया जाता है। भावनाओं के माध्यम से देश-विदेश में बैठे व्यक्ति को भी हँसाया व रुलाया जा सकता है। उसे सुलाया जा सकता है, जगाया जा सकता है। भावनाओं में बड़ी शक्ति होती है।

आत्मकल्याण की भावना भाना चाहिए। जिनागम में बारह प्रकार की भावना कही गई हैं जिसे अनुप्रेक्षा भी कहते हैं। 'अनु' का अर्थ पीछे व 'प्रेक्षा' अर्थात् देखना। जैसे एक व्यक्ति अपनी बैलगाड़ी में गन्ने भरकर ले जा रहा है वह सामने चलता चला जा रहा है बच्चे पीछे से गन्ने खींचते जा रहे हैं, गन्ने गिरते चले जा रहे हैं वह देख ही नहीं रहा, वह तो अपनी धुन में चलता चला जा रहा है, जैसे कोई व्यक्ति सिर पर दही का भगोना रखकर मस्ती में चलता चला जा रहा है, ऊपर से कौआ बैठा हुआ दही खाता जा रहा है, जैसे ही वह घर पहुँचा हो देखा दही का भगोना खाली। ऐसे ही यदि कोई धर्मात्मा पीछे से अपनी आत्मा को देखता नहीं है कि मैं क्या कर रहा हूँ, क्या मेरा ज्ञान है, क्या मेरा संयम है, क्या मेरा चरित्र है; यह सब पीछे मुड़कर देखता नहीं है तो कहीं ऐसा न हो जाए कि मेरी आत्मा रूपी गाड़ी जो रत्नों से भरी हुई है उसमें से एक-एक रत्न पीछे गिरते जाएँ और आत्मा खाली हो जाए, इसलिए हर साधक व श्रावक के लिये आचार्यों ने कहा तुम्हें पीछे मुड़कर देखना जरूरी है किसी और को नहीं अपितु अपने आपको देखना है।

अनुप्रेक्षा का अर्थ है अपनी क्रियाओं को, अपनी चर्याओं को, अपनी भक्ति, ज्ञान, ध्यान, तप को पीछे मुड़कर बार-बार देखना कि मेरी आत्मा की परिणति कैसी चल रही है ये अनुप्रेक्षा है। आत्म- कल्याण के लिये आचार्यों ने बारह प्रकार की अनुप्रेक्षाएँ कहीं हैं। ये 12 प्रकार की अनुप्रेक्षाएँ यूँ समझिये कि जिनवाणी के बारह अंगों का सार है, यदि अनुप्रेक्षाएँ समझ में आ गई तो सत्य तो यह है कि फिर और कुछ समझने की आवश्यकता नहीं। और यदि ये समझ में नहीं आई तो पूरा द्वादशांग भी समझ लिया जाए तब भी इतना मूल्य नहीं है। हमें और आपको इन्हीं बारह भावनाओं का निरंतर चिंतवन करना चाहिए, भावना भानी चाहिए जिससे हमारी आत्मा परमात्मा के साँचे में ढल सके। यह एक ऐसा सांचा है जिसमें आत्मा का द्रव्य डाला जाता है तो अन्य प्रकार का आकार निकलकर नहीं आता। इन बारह भावनाओं की चर्चा आगे करेंगे। आज बस इतना ही.....।।

।। श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ।।

प्रस्तावना संबंधित उपयोगी श्लोक व गाथाएँ

चिनु चित्ते भृशं भव्य भावना भावसिद्धये।
याः सिद्धान्तमहातन्त्रे देवदेवैः प्रतिष्ठिताः॥5॥

—ज्ञाना., आ. शुभचंद्र

हे भव्य! तू भावों की विशुद्धि के लिए हृदय के भीतर उन भावनाओं को संचित कर जिनकी प्रतिष्ठा जिनेन्द्रदेव के द्वारा सिद्धान्त रूप परमागम में की गई है।

बारस अणुवेक्खाओ, पचक्खाणं तहेव पडिकमणं।
आलोयणं समाहिं, तम्हा भावेज्ज अणुपेक्खं॥87॥

—आ. कुन्दकुन्द स्वामी/बारसाणुवेक्खा

ये बारह अनुप्रेक्षायें ही प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण, आलोचना तथा समाधि हैं इसलिए इन अनुप्रेक्षाओं की निरन्तर भावना करनी चाहिए।

सव्व वियारं हरदे, अणुवेक्ख - चितणं णिराउलदाइ।
जह तह रोय मोसही, रयणत्तयं हरदि कम्माणि॥292॥

—आ. वसुनंदी–अणुवेक्खा–सारो

जिस प्रकार औषधि रोग हरती है, रत्नत्रय कर्मों को हरता है उसी प्रकार निराकुलता से अनुप्रेक्षा का चिंतन सर्व विकार हरता है।

एताद्वादश भावनाः सुविमलास्तीर्थेश्वरैः सेविता,
प्रोक्ता भव्य नृणां हिताय परमा वैराग्य वृद्ध्यै बुधाः।
ये ध्यायन्ति सदाऽमले स्वहृदये तेषां मुदा वर्द्धते,
संवेगोत्र परो विनश्यति तरारागः शिवश्री र्भवेत्॥104॥

—आ. सकलकीर्ति—मूलाचार प्रदीप

ये बारह भावनाएँ अत्यन्त निर्मल हैं, तीर्थंकर परमदेव भी इनका चिंतवन करते हैं। यह भव्य जीवों का हित करने और परमवैराग्य को बढ़ाने के लिए कही गई हैं। इसलिए जो विद्वान् अपने निर्मल हृदय में प्रसन्न होकर इन भावनाओं का चिंतवन करते हैं उनका सर्वोत्कृष्ट संवेग बढ़ता है, राग नष्ट हो जाता है और मोक्षलक्ष्मी उनको प्राप्त हो जाती है।

अनित्यशरणाभावो भवश्चैकत्वमन्यता।
अशौचमास्रवश्चैव संवरो निर्जरा तथा॥29॥
लोको दुर्लभता बोधेः स्वाख्यातत्वं वृषस्य च।
अनुचिन्तनमेतेषामनुप्रेक्षाः प्रकीर्तिताः॥30/6 अधिकार॥

–तत्त्वार्थसार (आ. अमृतचंद्र सूरि)

अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचिता, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभता और धर्म के स्वरूप वर्णन की श्रेष्ठता–इन बारह विषयों के बार-बार चिन्तवन करने को बारह अनुप्रेक्षा कहते हैं।

अद्धुव असरण भणिया संसारामेगमण्णमसु इत्तं।
आसव संवरणामा णिज्जर लोयाणुपेहाओ॥
इयजाणिउण भावहु दुल्लह धम्माणु भावणा णिच्चं।
मणवयण - कायसुद्धी एदो उद्देसदो भणिया॥

–यशोधर चरित्र (पुष्पदंत कवि)

भो भव्य जीवों! ये अनुप्रेक्षा नाम मात्र से जिनदेव ने कही हैं उनको जानकर, मन-वचन व काय की शुद्धतापूर्वक जैसा कि आगे कहेंगे, उस प्रकार उनका चिंतवन करो। वे अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म बारह हैं।

1.

अनित्य अनुप्रेक्षा

जो जन्मे सो ही मरे, फूले सो कुम्हलाय।
ऊगै सो तो अस्त हो, बने वही मिट जाए॥

बने वही मिट जाए जिनागम में हैं लेखी।
है अनित्य पर्याय, सर्वदर्शी जिन देखी॥

कहे सूरि वसुनंदि, नित्यता द्रव्यनि की वो।
है पर्याय अनित्य, विज्ञ वे जानत हैं जो॥

राजा राणा छत्रपति, हाथिन के असवार
मरना सबको एक दीन, अपनी-अपनी बार

अनित्य अनुप्रेक्षा

महानुभाव!

हम देख रहे थे भावनाओं के संबंध में **''भावना भवनाशिनी- भावना भववर्द्धिनी''** संसार का नाश करने के लिये भावना भाना जरूरी है और संसार का संवर्धन करने के लिये भी भावना जरूरी है। भावना का पर्यायवाची शब्द अनुप्रेक्षा अर्थात् स्वयं को देखना, या पीछे देखना। अपनी चेतना की परिणति को देखना, अपने वचनों को देखना, अपनी क्रियाओं को देखना, मनोभावों को देखना। यह देखने का क्रम बहुत आवश्यक है। व्यक्ति मात्र नेत्रों से नहीं अपितु उपयोग से, चेतना की परिणति से देखता है वह जैसा देखता है वैसा होता चला जाता है। आँखों से जिसे देखते हैं वह रूप आँखों में समा जाता है, मन से जिसे देखते हैं वह रूप मन में स्थिर हो जाता है, चेतना से जिसे देखते हैं वह रूप चेतना में स्थिरता को प्राप्त करता है। देखना कैसे है? एक देखना होता है स्वार्थ भावना से और एक देखना होता है नि:स्वार्थ भावना से।

संसार में दो प्रकार के व्यक्ति होते हैं, एक व्यक्ति वे जो वस्तु के मूल स्वभाव तक पहुँचने में समर्थ होते हैं दूसरे वे जो वस्तु के बाह्य रूप-वेशभूषा को ही देखने में समर्थ होते हैं। जब व्यक्ति दो प्रकार के हैं तब दृष्टि भी दो प्रकार की होती है। एक दृष्टि वह जो वस्तु के बाह्य स्वरूप को ही

ग्रहण कर सकती है, दूसरी दृष्टि वह जो वस्तु के अंतरंग स्वरूप को ग्रहण करती है। बाह्य स्वरूप को ग्रहण करने वाली दृष्टि यह भी एक नयविवक्षा है एवं अंतरंग स्वरूप को ग्रहण करने वाली दृष्टि यह भी एक नयविवक्षा है। दोनों को जो ग्रहण करते हैं वह प्रमाण की बात होती है। प्रमाण में वस्तु के समग्र धर्म, स्वभाव, विशेषताओं को एक साथ ग्रहण किया जाता है। नय के माध्यम से किसी वस्तु की एक-एक विशेषता को, एक-एक गुण को, एक-एक स्वभाव को क्रमशः ही ग्रहण किया जा सकता है।

दो प्रकार की दृष्टि वाले व्यक्तियों में अधिकांश व्यक्ति बहिर्दृष्टि वाले हैं, जो वस्तु के बहिर्स्वरूप को ही देख सकते हैं। बहुत विरले ही व्यक्ति हैं जो अंतरंग के स्वरूप को देख सकते हैं। संसार में जितने भी पदार्थ हैं द्रव्यानुपेक्षा से वे सभी शाश्वत हैं, नित्य हैं, ध्रुव हैं किन्तु पर्याय की अपेक्षा से वे सभी द्रव्य अशाश्वत हैं, अनित्य हैं, क्षणिक हैं, अध्रुव हैं। जो बाह्य रूप है वह कभी शाश्वत नहीं हो सकता, अन्तरंग का स्वरूप कभी नष्ट नहीं हो सकता। बाह्य रूप को जाने बिना अंतरंग के रूप तक पहुँचना बड़ा कठिन है।

एक बार किसी ने प्रश्न पूछा–महाराज जी! जैन धर्म में जो प्रथम अध्रुव अनुप्रेक्षा है या अनित्य भावना है इसका चिन्तवन करने से कहीं ऐसा तो नहीं कि हम मार्ग से भटक रहे हों या कहीं लीक से हटकर चल रहे हों; क्योंकि यदि हम मान लेंगे सब नश्वर है, सब नष्ट हो जाएगा तो हम

कुछ क्यों करें, यह मानना जरूरी क्यों? हम ये क्यों नहीं मान लें कि कुछ भी नष्ट नहीं होगा, जो कुछ हमारे पास है वह सब हमारे पास ही रहेगा। उस व्यक्ति की जिज्ञासा बहुत अच्छी थी। हमने कहा—आपका कथन सही है संसार में जो शाश्वत है वह शाश्वत ही रहेगा, जो शाश्वत नहीं है वह शाश्वत हो नहीं सकेगा।

दरअसल में बात ये है कि व्यक्ति ने अशाश्वत को शाश्वत मान लिया है, पर्यायों को गुण की तरह, ध्रौव्य की तरह नित्य मान लिया है, परेशानी यह हो गई है। इसलिए व्यक्ति शरीर की सुरक्षा में जिन्दगी निकाल देता है, भौतिक संसाधनों की व्यवस्था में जिन्दगी निकाल देता है किन्तु ये सब पुद्गल की पर्यायें हैं सब विनष्ट होने वाली हैं।

इस संसार में दिखाई देने वाले पौद्गलिक पदार्थ आदि अनित्य हैं, सब नष्ट होने वाले हैं। पदार्थ तो ठीक है मानव पर्याय भी अनित्य है। धन-धान्य, वैभव, समृद्धि आदि कुछ भी स्थिर रहने वाला नहीं है। यह मानव इन्हीं नश्वर धन-संपत्ति, सौन्दर्य, जाति, कुल पर अभिमान कर पतन के गर्त में जाने को तैयार हो जाता है। रे भोले प्राणी! सब कुछ जो दिख रहा है, वह क्षणभंगुर है।

आपने नाम सुना होगा—सनत्कुमार चक्रवर्ती; जो भारत वर्ष के अन्तर्गत अयोध्या नगर के अधिपति राजा अनन्तवीर्य और रानी सहदेवी के पुत्र थे। जिन्होंने षट्खंडों पर विजय प्राप्त की। नवनिधि, चौदह रत्न, चौरासी लाख हाथी, रथ, अठारह करोड़ घोड़े, चौरासी करोड़ शूरवीर, छ्यानवें हजार

रानियाँ और बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजा इत्यादि श्रेष्ठ सम्पत्ति से वे युक्त थे। एक दिन सौधर्मइंद्र अपनी सभा में पुरुषों के रूप सौन्दर्य की प्रशंसा कर रहा था। तब सभा में बैठे एक देव ने पूछा–प्रभो! जिस रूप-सौंदर्य की आप इतनी प्रशंसा कर रहे हैं क्या ऐसा कोई मनुष्य है या ये सिर्फ प्रशंसा मात्र है।

इंद्र ने कहा इस समय भरत क्षेत्र का अधिपति सनत्कुमार चक्रवर्ती है, जिसके रूप की तुलना मनुष्य तो क्या देव भी नहीं कर सकते। यह सुनकर मणिचूल व रत्नचूल नामक दो देव चक्रवर्ती के सौन्दर्य को देखने हेतु पृथ्वी पर आए। जिस समय वे आए उस समय चक्रवर्ती वस्त्राभूषणों से रहित थे, स्नान करने के लिए तैयार थे किन्तु उस दशा में देखकर भी देवों को मानना पड़ा कि उनका रूप देवों के लिए भी दुर्लभ है। इसके बाद उन्होंने अपना असली रूप बनाकर पहरेदार से कहा तुम जाकर अपने महाराज से कहो कि आपके रूप को देखने के लिए स्वर्ग से दो देव आये हुए हैं। चक्रवर्ती ने जैसे ही सुना–कहा उनसे कहो मैं अभी राजसभा में आता हूँ और दिव्य वस्त्राभूषण धारण कर प्रसन्न होते हुए वे सिंहासन पर आसीन हुए। प्रसन्न होते भी क्यों नहीं, उनके सौन्दर्य को देखने स्वर्ग से देव जो आये थे।

किन्तु अबकी बार देवों ने रूप देखकर कहा, महाराज! क्षमा कीजिए; हमें बड़े दु:ख के साथ कहना पड़ रहा है कि वस्त्राभूषण रहित आपके रूप में जो सुंदरता थी, अब

वह नहीं रही। सुनकर सभी सभासद आश्चर्यचकित रह गए और कहने लगे हमें तो कोई अंतर नहीं दिखाई देता। तब सबको इस क्षणभंगुरता को समझाने के लिए देवों ने एक जल से भरा घड़ा मँगवाया और एक तृण घड़े में डालकर बाहर निकाल दिया। फिर सबसे पूछा कि बताओ इसमें क्या अंतर आया? सबने एक ही स्वर में कहा–कुछ नहीं। तब देवों ने कहा महाराज! घड़े में से जल की बूंद निकल जाने के बाद भी उन्हें अंतर दिखाई नहीं दे रहा। उसी प्रकार कुछ क्षण पहले के और अब के रूप में इन्हें अन्तर नहीं दिखता किन्तु वह कमी हमें दिखती है। यह कहकर दोनों देव स्वर्ग चले गए।

किन्तु चक्रवर्ती संसार की इस क्षणभंगुरता, अनित्यता का विचार करने लगता है। वह सोचता है कि स्वर्ण–रत्नादि सर्व संपत्ति, समस्त भाई, बन्धु, परिवार बिजली की तरह क्षणभर में नष्ट होने वाला है। और तो और जिसे हम जीवनभर सजाते हैं, संवारते हैं वह शरीर तक सदा रहने वाला नहीं है, वह भी रोगादि से घिरा है। अहो! मैं मूढ़ अभी तक इस संसार की अनित्यता को जान नहीं पाया। इस प्रकार विचार कर सनत्कुमार चक्रवर्ती अपने पुत्र को राज्य सौंपकर चारित्रगुप्त मुनिराज से अविनाशी पद की प्राप्ति हेतु जिनदीक्षा ग्रहण कर लेते हैं।

महानुभाव! यह जीव जीवनभर पौद्गलिक वस्तुओं के पीछे दौड़ता है, उन वस्तुओं के पीछे दौड़ता है जो ओस

की बूंद के समान शीघ्र ही क्षय को प्राप्त होने वाली हैं। हे कल्याण के इच्छुक भव्य प्राणियों! यथार्थता को जानो, समझो, पहचानो। आचार्य भगवन् श्री जिनसेन स्वामी ने कहा भी है–

वपुरारोग्यमैश्वर्यं यौवनं सुखसंपदः।
वस्तुवाहनमन्यच्च सुरचापवदस्थिरम्॥8/70 –आदिपुराण

शरीर, आरोग्य, ऐश्वर्य, यौवन, सुख-संपदाएँ, गृह, सवारी आदि सभी कुछ इंद्रधनुष के समान अस्थिर हैं।

व्यक्ति इस विनाशीक सुख की विषय-सामग्री को पाने की चाह में संपूर्ण समय नष्ट कर देता है। विषय-सामग्री के अर्जन, भोग और वियोग इन तीनों ही अवस्थाओं में यह मानव दुःखी रहता है। अतः नश्वर को छोड़ अविनश्वर को प्राप्त करने हेतु तत्पर होओ। जिसने इस संसार की क्षणभंगुरता को पहचान लिया है वही अविनश्वर पद को प्राप्त करने में समर्थ हो सकता है।

महानुभाव! एक दिन महाराज वज्रदन्त सुखपूर्वक सिंहासन पर बैठे हुए थे। तभी वनपाल ने एक सुंदर, विकसित कमल महाराज को अर्पित किया। महाराज ने हर्षपूर्वक उसे हाथ में लेकर सूंघा। तभी उन्होंने उसमें सुगन्धि का लोभी एक भ्रमर मरा हुआ देखा। ज्यों ही महाराज ने वह देखा वे विचारने लगे–देखो यह भ्रमर इसमें आसक्त होकर मृत्यु को प्राप्त हो गया। धिक्कार है ऐसी आसक्ति को! सच है यह लक्ष्मी, धन, वैभव इंदधनुष के समान क्षणभंगुर हैं, ये सब स्वप्न में प्राप्त हुई विभूति के समान शीघ्र ही नष्ट होने वाले हैं।

इस संसार की अनित्यता का भान होते ही महाराज वज्रदन्त अपने पुत्र को राज्यभार सौंपने को उद्यत हुए। किन्तु पुत्र अमिततेज ने ये कहकर मना कर दिया कि पिताजी जिस राज्य को आप ही छोड़ना चाहते हैं उसे हम स्वीकार क्यों करें। अमिततेज के साथ अन्य सभी पुत्रों ने भी राज्य भार लेने को मना कर दिया। तब महाराज वज्रदंत ने अपने पौत्र पुण्डरीक के लिए राज्य देकर अपने एक हजार पुत्रों सहित दीक्षा धारण की।

नित्य पद की प्राप्ति के लिए अनित्यता का यथार्थ ज्ञान, अनित्य पदार्थ, वस्तु, संबंधादि से विरक्ति आवश्यक है। व्यक्ति क्षणभंगुर पदार्थों का तो ध्यान रखता है किन्तु जो शाश्वत आत्मा है उस आत्मा का ध्यान नहीं रख पाता। यदि यह पुद्गल को पुद्गल मान ले तो कोई झगड़ा ही नहीं हो। पुद्गल से कभी किसी को राग नहीं होता, किसी को द्वेष नहीं होता, यदि द्वेष होता है तो पुद्गल की पर्यायों से। यदि पुद्गल पुद्गल दृष्टि में आये, पर्याय दृष्टि में नहीं आये फिर तो व्यक्ति राग-द्वेष करेगा ही नहीं। राग-द्वेष नहीं करेगा तो कोई भी जीव कर्म के बंध से नहीं बंधेगा। राग-द्वेष होता है पर्यायों में, जब तक पर्याय के प्रति दृष्टि रहेगी तब तक राग-द्वेष रहेगा ही रहेगा।

पहली दृष्टि जिसे बाह्य दृष्टि कहते हैं, वह है पर्याय दृष्टि, दूसरी दृष्टि जिसे अंतरंग दृष्टि कहते हैं वह है गुण दृष्टि जो ध्रौव्यरूप होती है। बाह्य दृष्टि पहले होती है अंतरंग बाद में। आप जानते हैं कि जब भी किसी वस्तु

को जाना जाता है पहले उसका बाह्य रूप देखने में आता है बाद में अंतरंग रूप। अंतरंग रूप देखने के लिये मन का सहारा लेना होता है, बाह्यस्वरूप देखने के लिये आँखों का सहारा लेना पड़ता है।

जैसे मूंगफली या बादाम के ऊपर का छिलका निकाले बिना अंदर का ज्ञान नहीं हो सकता किंतु सबसे पहले ये जानना पड़ेगा कि ये छिलका है, यह वह चीज नहीं है। यदि छिलके को ही वह वस्तु मान लेंगे तो भूल कर रहे हैं, इसी तरह से अशाश्वत, क्षणिक, नश्वर पर्यायों को गुणों की तरह ध्रौव्य मान लेंगे तो हम बहुत बड़ी भूल कर रहे हैं। छिलका मूंगफली नहीं है, वह छिलका मूंगफली का है यह बात सही है किन्तु छिलका मूंगफली नहीं है। छिलका-छिलका है, मूंगफली मूंगफली है।

इसी तरह से जो अध्रुव है वह मैं नहीं हूँ, जो मैं हूँ वह अध्रुव नहीं है किन्तु मैंने आज तक अपनी आत्मा का परिचय अध्रुव रूप में पकड लिया है। मैं कौन हूँ? मैं मनुष्य हूँ अपना नाम चेता देगा किन्तु ये नाम, दाम, चाम आत्मा के परिचय नहीं हैं, आत्मा का तो कोई नाम नहीं है, आत्मा तो कहने में नहीं आ सकती वह शक्ति अपेक्षा से शुद्ध शाश्वत द्रव्य है, वर्तमान में अशुद्ध है इसलिए ये जन्म-मरण करता हुआ संसार में परिभ्रमण कर रहा है।

महानुभाव! संसार की रमणीक वस्तुएँ सबको प्यारी लगती हैं किन्तु उनमें स्थिरता नहीं, विवेकी पुरुष क्षणिक सुख का मोह त्यागकर शाश्वत सुख के लिए प्रयत्न करते हैं। कहा भी है–

जह उप्पादो दिस्सदि, तह विणासो वि णियमेणं लोगे।
पज्जयरूवेणं खलु, किं चि वि णो सस्सदो लोगे॥14॥

–(अणुवेक्खा-सारो)

जिस प्रकार लोक में उत्पाद देखा जाता है उसी प्रकार नियम से विनाश भी देखा जाता है। निश्चय ही पर्याय रूप से लोक में कुछ भी शाश्वत नहीं है। व्यक्ति की दृष्टि जब पर्याय पर होती है तो वह उसी को सर्वस्व मान लेता है किन्तु तन, धन, परजन आदि बाह्य जितने भी चेतन-अचेतन पदार्थ हैं वे सभी विनाशशील हैं, सदा किसी के पास दीर्घकाल तक एक से नहीं रहते।

पद्मपुराण में वर्णन आता है राजा सहस्रार और रानी मानसुन्दरी का पुत्र 'इन्द्र'। चूंकि रानी मानसुंदरी को गर्भ अवस्था में इन्द्र के समान भोग भोगने की इच्छा हुई अतः पुत्र का नाम रखा 'इन्द्र'। वह इन्द्र जब यौवन अवस्था को प्राप्त हुआ तब उसने इन्द्र के समान अपना महल बनवाया, उसकी 48 हजार स्त्री थीं। पट्टरानी का नाम उसने शची ही रखा। उसने अपनी सभा का नाम सुधर्मा रखा जहाँ इंद्र के समान चार लोकपाल नियुक्त किए। इस प्रकार बड़े भारी ऐश्वर्य को भोगता हुआ वह राजा इंद्र जिसके यहाँ आकाश में चलने वाले हाथी-घोड़ों की तो गिनती ही नहीं, 26 हजार नृत्यकार नृत्य करते, जिसके पास वज्रनाम शस्त्र, हरिणकेशी सेनापति, अश्विन कुमार वैद्य, गायक बृहस्पति मंत्री आदि समस्त वैभव इन्द्र के समान ही निश्चित कर रखे थे। किन्तु वही इन्द्र जब रावण से पराजय को प्राप्त होकर अपने महल

के अंदर स्थित जिनालय में बैठा था तब वह अपनी पराजय का स्मरण करता हुआ इस प्रकार विचारने लगा अरे! मेरे इस ऐश्वर्य को धिक्कार हो जो शरद ऋतु के बादलों के समान क्षणभर में विलीन हो गया। वे शस्त्र, हाथी, घोड़े, योद्धा जो मुझे आश्चर्य उत्पन्न कराते थे आज सब के सब तृण के समान तुच्छ जान पड़ते हैं। कर्मों की विचित्रता को अन्यथा करने में कोई भी मनुष्य समर्थ नहीं है। यथार्थता तो यही है कि कर्मों के बल से ही यह जीव बल धारण करता और निज कर्मों के कारण ही निर्बलता को प्राप्त होता। जिस इन्द्र नाम को मैं इन्द्र के ही समान ऐश्वर्यशाली मान रहा था आज मुझे संसार की असारता का बोध हो गया। जिस संसार-शरीर-भोगों के असार सुख में मैं लीन था आज मुझे जागृति हुई है। जिन क्षणिक पदार्थों को, पर्यायों को मैं ध्रुव मान रहा था वे सब अनित्य हैं। अनादिकाल से इस संसार में परिभ्रमण करते हुए मैंने कर्मवश किसे बन्धु व किसे मित्र नहीं बनाया और उन्हीं राग-द्वेष के वशीभूत मैं अपनी संसार की अर्गला को मजबूत करता रहा, आत्महित में प्रवृत्ति ही नहीं की।

इन्द्र का यह चिन्तन चल ही रहा था तभी उसके पुण्य संयोग से निर्वाणसंगम नामक चारणऋद्धिधारी मुनिराज आकाशमार्ग से आते हुए नीचे उतरे, राजा इंद्र ने उनकी पूजन-अर्चन-वंदन अत्यंत भक्तिभाव से की एवं उनसे अपने पूर्वभवों को पूछा। पुनः जब उसने रावण से अपनी पराजय का कारण पूछा तब उन प्रत्यक्षज्ञानी मुनिराज ने उसे बताया

कि तुम्हारे इस पराभव में रावण तो निमित्तमात्र है तुमने जो इसी जन्म में कर्म किए उससे यह पराभव प्राप्त हुआ। अरिंजयपुर नगर में वह्निवेग नाम के विद्याधर ने अपनी पुत्री आहल्या का स्वयंवर रचा। समस्त विद्याधर उस स्वयंवर में आये थे और उत्कृष्ट सम्पदा से युक्त तुम भी वहाँ पर गये थे किन्तु आहल्या ने उस स्वयंवर में चन्द्रावर्तनगर के राजा आनंदमाल को वरा। आनंदमाल तो आहल्या के साथ अपनी नगरी लौट गया किन्तु तुम ईर्ष्यावशात् बहुत क्रोध के कारण उसी समय से उससे शत्रुता करने लगे। कुछ समय पश्चात् आनंदमाल विद्याधर को सहसा ही संसार- शरीर-भोगों की अनित्यता जान वैराग्य हुआ और वे समस्त भोगों को नश्वर जानकर तप करने में उद्यत हुए।

एक समय हंसावली नदी के किनारे रथावर्त पर्वत पर वे मुनि आनंदमाल प्रतिमायोग से विराजमान थे, तुम अपनी स्त्री सर्वश्री के साथ वहाँ से निकले, तो तुमने उन्हें पहचान लिया और क्रीड़ा करते हुए अहंकारवश उनकी बार-बार हँसी की और उन्हें रस्सियों में कसकर लपेट लिया किन्तु वे मुनिवर पर्वत के समान निष्कम्प-अचल रहे। उनका मन तत्त्वार्थ के चिन्तन में लीन रहा किन्तु उन्हीं के समीप कल्याण नामक दूसरे मुनि ऋद्धिधारी थे उन्होंने तेरे इस कुकृत्य से दु:खी होकर शाप दिया कि तूने इन निरपराध मुनिराज का तिरस्कार किया है इसलिए तुम भी तिरस्कार को प्राप्त होंगे। वे मुनि तो अपनी अपरमित श्वास से तुम्हें भस्म ही कर देना चाहते थे किन्तु तुम्हारी पत्नी सर्वश्री जो

सम्यग्दर्शन से युक्त गुरुभक्ति में लीन रहने वाली थी, उसके निवेदन से उन्होंने तुम्हें छोड़ दिया। मुनिराज द्वारा इन्द्र को अपने पूर्वजन्मों का स्मरण हो आया, उसने मुनिराज को नमोस्तु निवेदित किया और इस मनुष्यपर्याय को जल के बबूले के समान निःसार जानकर अपने मन को, अपनी बुद्धि को धर्म में स्थिर किया पुनः अपने पुत्र को राज्यभार सौंपकर जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण की पुनः महान् तप कर निर्वाण पद को प्राप्त किया।

महानुभाव! वह राजा इन्द्र जो इन्द्र के समान उत्तम ऐश्वर्य को प्राप्त था किन्तु क्षणभंगुर जीवन-यौवन-लक्ष्मी की यथार्थता को जानकर इन सबको त्यागकर उत्कृष्ट तप करने वन को चले गए। आचार्य भगवन् अमितगति स्वामी ने लिखा है–

श्री विद्युच्चपला वपुर्विधुनितं नानाविधव्यादिभिः,
सौख्यं दुःख कटाक्षितं तनुमतां सत्संगति दुर्लभा।
मृत्यध्यासितमायुरत्र बहुभिः किं भाषितैस्तत्त्वतः,
संसारेऽस्ति न किंचिदङ्गिसुखकृत्तस्माज्जना जागृताः॥2॥

–सुभा. रत्नसंदोह

लक्ष्मी बिजली के समान चंचल है, सदा एक के पास नहीं रहती, शरीर नाना रोगों से ग्रस्त होने वाला है। संसार के सुख पर दुःख की दृष्टि लगी रहती है, सुख का स्थान दुःख ले लेता है। सज्जन पुरुषों की संगति सुखदायक है किन्तु वह अत्यन्त दुर्लभ है। आयु के पीछे मृत्यु लगी हुई है। आयु के समाप्त होते ही मृत्यु पकड़ लेती है, बहुत

कहने से क्या इन संसारी प्राणियों को किंचित् भी सुख नही है। हे भव्य जनो! सावधान हो जाओ।

महानुभाव! विवेकी प्रज्ञजन वही व्यक्ति कहलाते हैं जो क्षणिक धन-पद-वैभव-सम्पत्ति आदि में अपना समय व श्रम नष्ट नहीं करते।

महानुभाव! इस पर्याय को जानना जरूरी है, कैसे जानें? यदि इस पर्याय को ध्रुव मान लेंगे तो भी गलत है, पर्याय अध्रुव है यह जानकर तब आगे बढ़ेंगे। बाहर का दरवाजा खोले बिना अंदर तक नहीं पहुँचा जा सकता। पर्याय का दरवाजा बाहर का दरवाजा है, जब तक उसके बाहर ही चक्कर काटते रहेंगे तब तक अंदर न पहुँचेंगे। कोई व्यक्ति मंदिर में विराजमान मूर्ति के दर्शन करना चाहता है तो बाहर का दरवाजा खोलकर अंदर जाना होगा। बाहर से अंदर का आभास, प्रतिभास, अनुभव, प्रतीति नहीं हो सकती और अंतरंग में पहुँचते ही सब विस्मृत हो जाता है, बाहर का कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं होता। तो अध्रुव अनुप्रेक्षा के मायने हम देखें कि संसार में जो भी पर्याय अध्रुव हैं उनके प्रति मोह नहीं करना है, राग नहीं करना है, द्वेष नहीं करना है क्योंकि हम जो कुछ भी भ्रम कर रहे हैं वह इसलिए कि जो कुछ भी वस्तु मेरे पास है वह सदैव रहे, वह कभी नष्ट न हो; किन्तु जो नष्ट हो जाए उससे राग क्यों किया जाए?

जैसे कोई व्यक्ति तुमसे कहे यह अमुक वस्तु आप ग्रहण कर लो किन्तु सूर्य की किरणों को देखते ही यह नष्ट हो जाती है, तब आप कहेंगे भैया जो वस्तु नष्ट हो जाएगी ऐसी

वस्तु न चाहिए। ऐसी वस्तु बताओ जो कभी नष्ट न हो। व्यक्ति चाहता है वस्तु दीर्घकाल तक रहे क्योंकि दीर्घकाल तक रहने में वह उसे भोग लेता है, उसका उपभोग कर लेता है जिससे उसे लगता है मैंने वस्तु का मूल्य वसूल कर लिया। यदि किसी ने मकान बनाया और उस मकान में 20-40-100 साल रह लिया तो वह कहता है मेरे मकान का मूल्य वसूल हो गया, यदि बहुत अच्छी कोठी बनवाई और भूकंप आते ही नष्ट हो गई तो वह रोने बैठ जाता है कि मैंने अभी तो नयी बनवायी थी। कोई नये कपड़े सिलवाकर लाया और संयोग की बात वे नये कपड़े जल जाएँ तो वह बहुत दु:खी होता है, विकल्प होता है कि अभी तो नये कपड़े बनवाये थे एक दिन भी पहन नहीं पाया कि जल गये। जब उस वस्तु का मूल्य वसूल कर लिया जाता है तो उसके नष्ट होने में दु:ख नहीं होता। तो जो-जो वस्तु नष्ट होने वाली हैं और तुम्हें प्राप्त हैं तो उनका मूल्य वसूल कर लो।

मूल्य वसूल कैसे किया जाए? मूल्य वसूल होता है उसका उपयोग करने से। अब तुम्हारे पास ये मानव शरीर है, तुम्हारे पास भौतिक संसाधन हैं इन सबका भी मूल्य वसूल करो, इसका मूल्य होता है उसका सम्यक् उपयोग करने से, सदुपयोग करने से। दुरुपयोग करने से तो वह वस्तु स्वयं के लिये ही हानिकारक व घातक हो जाती है। अत: सदुपयोग करना प्रारंभ करो।

एक व्यक्ति था, जो पशु-पक्षी की भाषा को समझता था। उसके पास हाथी, घोड़े, बैल, गाय आदि बहुत सारे

पशु-पक्षी थे। एक दिन वह अपने पशुओं के स्थान पर गया, रात्रि का समय था सभी शांत थे, उसने देखा–एक हाथी अपनी हथनी से कह रहा है (वह हाथी अपनी ही भाषा में कह रहा है) कि मुझे लगता है मेरी मृत्यु समीप है, यह बात उस व्यक्ति ने सुन ली कि हाथी की मृत्यु समीप है, उसने प्रातःकाल होते ही हाथी को किसी दूसरे व्यक्ति को बेच दिया और संयोग की बात संध्याकाल होने से पूर्व ही वह हाथी मृत्यु को प्राप्त हो गया। उसने हाथी का मूल्य ले लिया अतः उसे दुःख नहीं हुआ। ऐसे ही उसे कोई भी जानवर मृत्यु के समीप दिखाई देते, वे पशु आपस में चर्चा करते तो वह उस पशु-पक्षी को बेच देता और उनका मूल्य लेकर कहता अब मुझे कोई चिंता नहीं कि वे जीयें या मरें।

किन्तु उसकी मुश्किल तो तब हुई जब एक दिन उसकी पशुशाला में बंधे पशु आपस में चर्चा कर रहे थे कि हमारे मालिक की उम्र बहुत कम रह गई है अब ये मालिक मृत्यु को प्राप्त होने वाला है। उस व्यक्ति ने जैसे ही यह सुना तो वह घबराने लगा कि पशु-पक्षियों को तो बेचकर मैंने मूल्य वसूल कर लिया अब मैं अपने शरीर का मूल्य कैसे वसूल करूँ, अपने शरीर को कैसे बेचूँ, क्या करूँ? वह दौड़ा-दौड़ा जाता है किसी दिगम्बर मुनिराज के पास और कहता है महाराज जी! मुझे एक उपाय बताओ, ये मेरी मनुष्य पर्याय है, मैं इसको किस प्रकार सार्थक करूँ। महाराज ने कहा–भैया! ऐसे शरीर तुमने कई बार प्राप्त कर लिये किन्तु तुमने इस शरीर को प्राप्त करके पाप ही कमाया है, भोग भोगे हैं, शरीर से राग किया, संसार से राग

किया, पापों को अर्जन करते रहे अब तुम यदि इस शरीर का मूल्य वसूल करना चाहते हो तो सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र को स्वीकार करो। धर्म के प्रति, आत्मा के प्रति, परमात्मा के प्रति सत्यनिष्ठ रहो। सत्यज्ञान, धर्मज्ञान, आत्मा का ज्ञान, परमात्मा का ज्ञान और सत्य आचरण, जिस आचरण को प्राप्त करके यह जीव संसार परिभ्रमण को प्राप्त न करे ऐसे आचरण की प्राप्ति करो तभी इस शरीर का मूल्य वसूल हो सकता है।

जो कार्य अन्य शरीर को प्राप्त कर नहीं किये जा सकते हैं उस कार्य को इस शरीर को प्राप्त करके कर लेना चाहिए क्योंकि अन्य शरीर तो अनंत बार प्राप्त हुए हैं किंतु ये मनुष्य भव बार-बार नही मिलता। इस शरीर को प्राप्त करने के लिए तो स्वर्ग के देवता भी तरसते हैं। जैसे किसी नगर में दो घंटे लाइट आती है, कुशल व्यक्ति उस समय वह कार्य कर लेता है जो काम लाइट से करना होता है; क्योंकि वह जानता है कि 22 घंटे लाइट नहीं आएगी। ये दो घंटे कार्य करना उसका मूल्य वसूल करना होता है। ऐसे ही इस मनुष्य-पर्याय से जो कार्य हो सकते हैं और जो कार्य अन्य किसी पर्याय में संभव नहीं हैं वही कार्य मनुष्य-पर्याय से कर लेना चाहिए। भोगादि के कार्य, विषय-कषाय के कार्य, आहारादि चार संज्ञाओं की पूर्ति ये सब तो अन्य भव में करते आए हैं, केवल एक काम है जो मनुष्य-पर्याय के अलावा कहीं नहीं हो सकता वह है संयम साधना। संन्यास लेकर के प्रभु भक्ति में लीन हो

जाना, आत्मध्यान में लीन हो जाना, गुरु सेवा में लीन हो जाना ये कार्य अन्य अवस्था में संभव नहीं हैं। करपात्र में आहार लेना या करपात्री को आहार देना यह मनुष्य के सिवाय और कोई नहीं कर सकता। सकल संयम की साधना मनुष्य के अलावा और कोई कर नहीं सकता। आप यदि अपने मनुष्य शरीर का सही मूल्य वसूल करना चाहते हैं तो इसके माध्यम से धर्मध्यान करो। विषयों का सेवन तो पशु-पक्षी भी करते हैं, वंशवृद्धि करते हैं, क्षुधा शमन करने के लिये भोजन तो पशु-पक्षी भी ग्रहण करते हैं, नींद आती है तो पशु-पक्षी भी विश्राम करते हैं, परिग्रह एकत्र करने की संज्ञा तो पशु-पक्षियों में भी पायी जाती है ये सब क्रियायें पशु-पक्षियों में समान रूप से पायी जाती हैं, यदि जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त तक आप भी ऐसा ही करते रहे केवल कमाया, पेट में खाया, वंश की वृद्धि की, थक गये तो सो गये और मरते समय पुद्गल के कुछ ढेर लगाते हुए छोड़ गये इतना ही मात्र किया है तो समझ लो तुमने कुछ नहीं किया। ऐसा कार्य तो अनंत बार किया, अनंत बार करते चले गये किन्तु इससे मनुष्य भव की सार्थकता नहीं है। ऐसा कार्य तो अनंतजीव कर रहे हैं, तुम चारों संज्ञाओं से हटकर के कुछ काम करो, अब तुम अपने पाप कर्मों का मुकाबला डटकर किया करो। यदि वहाँ से हट जाओगे तो संसार में भटक नहीं पाओगे, जो उनसे हटता नहीं है बस वहीं पर लिपटा रहता है तो वह संसार में लटकता रहता है। चार संज्ञाएँ छोड़ दो बस।

ये मत सोचो कि मुझे इकट्ठा करना है, जो तुमने इकट्ठा किया है वह तुम्हारा नहीं है, तुम्हारा तो वह है जो तुम्हारी आत्मा के साथ जाए, जिसे मृत्यु छीन ले वह तुम्हारा कैसे हो सकता है, जिसे कोई चुरा ले, जो गुम जाए, गिर जाए, नष्ट हो जाए वह तुम्हारा कैसे हो सकता है? तुम्हारा तो वही हो सकता है जिसे मृत्यु भी छीन न पाए। वह है तुम्हारी आत्मा के द्वारा किया हुआ, शुद्ध भावना के द्वारा किया हुआ धर्म, वह है प्रभुभक्ति, वह है संत पुरुषों की सेवा, वह है परोपकार, प्रेम-वात्सल्य, कारुण्यभाव, मैत्रीभाव के साथ जीवन यापन करना, वह है अपने एक-एक समय को आत्म आराधना में लीन कर लेना, अपनी आत्मा का निरंतर अवलोकन, तत्त्व चिंतन, बस आत्मा को देखो और जानो अन्य कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं है। तभी आप इस मानव शरीर का मूल्य वसूल कर सकते हैं अन्य प्रकार से मूल्य वसूल नहीं किया जा सकता।

अरे! एक व्यक्ति किसी मजदूर को भी अपने यहाँ काम पर लगाता है, सुबह से लेकर शाम तक 100-500 रु. देता है तो कहता है कि ये दिन भर बैठा रहा, इसने क्या काम किया? यदि काम नहीं करता है तो उसका मालिक उसे पारिश्रमिक नहीं देता और यदि काम करता है तो वह कहता है हाँ मूल्य वसूल कर लिया चाहे उसने 500 रु. का काम 2 घंटे में किया या 6 घंटे में किया, उस मालिक को अखरता नहीं है। वह चाहता तो ये है कि 200 रु. देकर 2000 रु. का काम ले लिया जाए किन्तु जो व्यक्ति 2000

रु. देकर 200 का भी काम न ले उस व्यक्ति को बुद्धिमान् नहीं कहते। तो ऐसे ही उत्तम पर्याय को प्राप्त करके यदि हम इस मनुष्यपर्याय का मूल्य वसूल नहीं कर रहे हैं तो समझो हमने अनित्य भावना को समझा ही नहीं।

हम अनित्य भावना का चिंतन करें। जो क्षणिक पर्यायें हैं उनमें रंजायमान न हों, उन्हें शाश्वत न समझें। यह तन अशाश्वत है, चेतना शाश्वत है किंतु भ्रमवश हम आत्मा को अशाश्वत मान बैठे हैं और तन को शाश्वत इसीलिए ही संसार के दु:खों को भोगने के लिये हमे मजबूर होना पड़ा है। शरीर का सामर्थ्य, नेत्रों में अवलोकन करने की शक्ति, नासिका के सूँघने की सामर्थ्य, कानों में श्रवण का सामर्थ्य, हाथ में कार्य करने की शक्ति, पैरों में चलने की शक्ति, उदर में भोजन पचाने की शक्ति, सेवक, वाहन, चल-अचल सम्पत्ति, वस्त्र-आभूषण, निरोगता, बुद्धि की अविकलता, शुभ निमित्तों का समागम ये सभी लोक में अध्रुव, अनित्य व चंचल माने गए हैं।

सूखे वृक्ष पर बैठा बंदर, लम्बे डंठल वाला पीपल का पत्ता, अल्प जल में विद्यमान मछली, भूत-प्रेत की बाधा से आविष्ट कुमारी, भ्रमर जिसके गण्डस्थल पर गुंजार कर रहे हैं ऐसे हाथी का कर्ण, विभिन्न प्रकार के पराग में आसक्त तितली, प्रत्येक इंद्रिय की अनेक प्रकार की भोग सामग्री जिसके समक्ष रखी है ऐसे व्यक्ति का चंचल मन, आकाश से गिरता हुआ तारा, उल्का, हवा के वेग से नभोपतित जलबिंदु, पर्वत की चोटी से गिरती हुई तीव्रवेगवती सरिता,

भयंकर बिच्छु के द्वारा डसा हुआ प्राणी, वायु से पूरित एवं वायु संचालित क्षेत्र में पडे हुए गुब्बारे, यथेष्ट अनेक प्रकार के खिलौनों को देखता हुआ बालक जिस प्रकार चंचलता को धारण करते हैं उसी प्रकार अनित्य भावना का चिंतन करते हुए व्यक्ति को संसार के सभी पदार्थ चंचल-अस्थिर-अशाश्वत ही नजर आते हैं।

महानुभाव! आचार्य भगवन् श्री अमितगतिस्वामी जी ने मरणकण्डिका ग्रंथ में लिखा है-

डिंडीरपिंड वल्लोकः सकलोऽपि विलीयते।
समस्ताः संपदश्चात्र स्वप्नभूति समागमः॥1801॥

यह समस्त लोक-संसार के पदार्थ डिंडीर पिंड समुद्र का फेन या झाग के समान नष्ट होने वाले हैं तथा समस्त वैभव, धन, संपदाएँ स्वप्न के वैभव समागम के समान क्षणभंगुर हैं।

यह तन केले के थम्भ के समान सारहीन, धन बिजली के समान चंचल और भोग बादल की बूंद के समान नाशवान् हैं। अत्यंत चंचल इनकी स्थिरता लेशमात्र भी नहीं। अनादि से आपने और हमने इस 84 लाख योनियों से भरे संसार में आज तक परिभ्रमण ही तो किया है, पर्यायों में मूढ़ बनकर इस चेतना ने आज तक जन्म-मरण से कभी स्थिरता प्राप्त ही नहीं की। कारण सिर्फ और सिर्फ एक ही रहा कि आज तक हम इस संसार की विनश्वरता को समझ न सके। आयु क्षण-क्षण में नष्ट हो रही है, शरीर हर-पल नष्ट हो रहा है तो भी इस संसार की अनित्यता से

आज तक अनजान ही बने रहे। प्रातःकाल जिसका मंगल विवाह हो रहा है सांयकाल उसी की मृत्यु हो जाती है। ये प्रियजन बंधु-बांधव तो ऐसे हैं जैसे नदी से पार होने के लिये अनेक देशों से आकर एक नाव में बैठने वाले पथिकों के समान नदी पार होते ही सभी अपने-अपने गाँव-नगर में चले जाते हैं फिर साथ नहीं रहते। क्षणिक संयोग है जैसे रात्रि में एक वृक्ष पर पक्षियों का संयोग होता है रात्रि समाप्त होते ही संयोग समाप्त हो जाता है वैसे ही परिवार का संयोग अस्थिर है।

इंद्रिय भोग व उनकी सामग्री भी शाश्वत नहीं; वृद्धावस्था में नष्ट हो जाती हैं अथवा कमजोर हो जाती हैं।

इस संसार की असारता को जानो, पहचानो और धर्म बुद्धि को जागृत करो। जैसे ऋतुएँ व्यतीत होकर पुनः-पुनः आती हैं किन्तु यह यौवन व्यतीत होने पर लौटता नहीं, आयु लौटती नही, नदी के प्रवाह की तरह बहती ही जाती है। जैसे पूर्वाह्नकाल में छाया घटती जाती है वैसे ही शरीर की सुकुमारता भी घटती जाती है। सांयकालीन छाया जैसे बढ़ती जाती है वैसे ही वृद्धावस्था बढ़ती जाती है। यह तेज-कान्ति इन्द्रधनुष के समान चपल है।

महानुभाव! आश्चर्य होता है किस प्रकार सब जानकर भी उसी-उसी की ओर यह जीव भागता है। जिन माता-पिता से जन्म हुआ वे मृत्यु को प्राप्त हो गये, जिन बंधु-बांधवों के साथ खेल-कूदकर बड़े हुए उन्होंने भी मुँह मोड़ लिया, आँखें फेर लीं वे सब भी काल के गाल में समा गए इसी परिपाटी में प्रत्येक जीव का क्रम आएगा तो फिर क्यों

यह चित्त विषयों से विरक्त नहीं होता। भामण्डल की तरह करिष्यामि-करिष्यामि तो करता है दूसरों की गणना तो कर लेते हैं किन्तु स्वयं मोह से ग्रस्त हो निज के पास आयी मृत्यु को भी नहीं देख पाते।

यदि मुक्ति रूपी निवास स्थल अर्थात् सिद्धालय में निःश्रेयस सुख प्राप्त करने की भावना है तो पवित्र आचार वाले तथा हितकारी जैन धर्म का पालन करो, तृष्णा से ऊपर उठो। इस समस्त संसार में अनंत सुख देने वाला पूज्य, निष्पाप रत्नत्रय को छोड़कर अन्य कोई वस्तु न तो स्थायी है और न अपनी है। उससे प्राप्त मुक्ति सुख ही नित्य है, शाश्वत है, अमर है।

सूर्य का प्रचण्ड तीव्र प्रताप या उसकी तीव्र किरणों जल का अवशोषण करने में समर्थ होती हैं। वे प्रचण्ड सूर्य किरणें यह नहीं देखतीं कि सरोवर, झील, नदी या तालाब में भरा हुआ जल निर्मल है या मल सहित। सूर्य की किरणों का कार्य है उस जल का अवशोषण करना। व्यक्ति जो निरंतर इस प्रक्रिया को देखता है तो उसे अहसास नहीं होता कि जल सूखता चला जा रहा है किन्तु जब व्यक्ति कुछ दिनों बाद देखता है कि यह जल जब मैंने पहले देखा था तब इतना था आज इतना कम हो गया तब उसे अहसास होता है, हाँ अवशोषण हुआ है।

इसी प्रकार जब हम निरंतर एक ही दशा में वर्तन करते हैं, चाहे वह हमारे जीवन की दशा हो चाहे अन्य आय-व्यय की दशा हो, चाहे स्वास्थ्य की दशा हो हम जिस दशा में

निरंतर चलते चले जा रहे हैं उससे हमे अहसास नहीं होगा कि हम कितने बदल गये। किन्तु जब हम दो बिन्दुओं पर विचार करें कि पहले हम ऐसे थे आज हम ऐसे हो गए तब अंतर समझ आता है कि अब में और तब में कितना अंतर आ गया या आगे आने वाले समय में कितना अंतर आ जाएगा। जाता हुआ समय या समयरूपी सूर्य की प्रचण्ड किरणें हमारे पाप को भी नष्ट कर सकती हैं और हमारे पुण्य को भी नष्ट कर सकती हैं जैसे सूर्य कीचड़ व जल दोनों को ही अपने ताप से सुखा देता है ऐसे ही समयरूपी सूर्य का प्रचंड प्रताप हमारे पुण्य को भी बर्बाद कर रहा है। हम कहते हैं कि हमारा पुण्य ऐसे कैसे नष्ट हो जाएगा? पुण्य उदय में आ रहा है, वह हमें अपना फल दे रहा है हम उसे भोगें या न भोगें पुण्य तो निर्जीण हो ही रहा है; इसी तरह से पाप भी उदय में आ रहा है, अपने फल को दे रहा है, अब हम उसके फल से प्रभावित हों या न हों पर हमारा पाप निर्जीण हो रहा है। जाता हुआ समय हमारे दोनों कर्मों को नष्ट करता है।

व्यक्ति पाप-पुण्य के उदय में सावधान हो जाए। अर्थात् एक व्यक्ति अपने पुण्य को बर्बाद करता चला जा रहा है समय के सूर्य से अपने पुण्य रूपी स्वच्छ जल को सुखाता चला जा रहा है वहीं दूसरा व्यक्ति उस समय रूपी सूर्य से अपने पापरूपी कीचड़ को सुखाता जा रहा है। जो पुण्य रूपी स्वच्छ जल को बचाता जा रहा हो वह उस पुण्य का सदुपयोग करके अपनी आत्मा का हित कर सकता है मोक्षमार्गी बन सकता है। जिसने पुण्य को सुखा दिया

पुण्योदय में तन का सुख भोगा, धन का सुख भोगा अथवा कोई पद-प्रतिष्ठा प्राप्त की, उसमें सारा समय समाप्त हो गया किन्तु अपने आत्मा के वैभव को प्राप्त नहीं किया। और एक व्यक्ति वह जिसने पाप को सुखाकर जो मिट्टी बची थी उससे भी खिलौने बनाकर धन कमा लिया।

महानुभाव! व्यक्ति को सोचना यह है कि समय रूपी सूर्य कभी रुकेगा नहीं, चलता रहेगा और ऐसा एक भी समय जीवन में नहीं आएगा जब हमारे किसी भी कर्म की निर्जरा नहीं हो रही हो, हमारा कर्म फल नहीं दे रहा हो। अब व्यक्ति को पुरुषार्थ से सोचना ये है कि जब दोनों ही (पुण्य-पाप) नष्ट होने वाले हैं, गंदे पानी का जल भी सूखने वाला है, स्वच्छ जल भी सूखने वाला है तब क्यों न मैं स्वच्छ जल का सदुपयोग कर लूँ, मैं अपने पुण्य का सदुपयोग कर लूँ, पाप को नष्ट होने दूँ। जो व्यक्ति इस प्रकार से कार्य करते हैं वे निःसंदेह स्व-पर के हित में निमित्त बन जाते हैं, जो सदुपयोग नहीं करते वे स्व-पर के विध्वंसक बन जाते हैं।

अनित्य भावना हमें सिखा रही है कि हमें अपने शुभ निमित्तों का सदुपयोग करना है, अशुभ निमित्तों का परिहार करना है, अशुभ निमित्तों से बचना है। अशुभ निमित्त जब नष्ट होगा तब नष्ट होगा किन्तु वह नष्ट होने के पहले हमारा बहुत कुछ नष्ट कर जाएगा। तो अशुभ निमित्त के नष्ट होने से पहले हमें उसे नष्ट कर देना है। शुभ निमित्त को नष्ट होने से बचाना है यही व्यक्ति की विवेकशीलता है। हम शुभ निमित्तों को दीर्घकाल तक बनाकर के रखें

अर्थात् आज अरिहंत भगवान् साक्षात् हमारे मध्य में नहीं हैं हमने उन्हें अपने मन में रखने के लिए उनकी मूर्ति लाकर स्थापित कर ली, अर्हंत भगवान् की वाणी हमारे सामने नहीं है हमने उसको शास्त्रों में लिखकर रख लिया, गुरु महाराज हमारे सामने नहीं हैं तो हम जाकर उनके दर्शन करते हैं, उनके चित्र रखते हैं, उनकी अनुभूतियाँ याद रखते हैं, उनका आहार-विहार आदि चर्याओं को याद करते हैं इस प्रकार हम शुभ निमित्तों को दीर्घकाल तक बनाये रखने के लिये प्रयास करते हैं। अशुभ निमित्त हमारे मस्तिष्क में जम जाते हैं इसलिए उनको निकालने के लिये अपने मस्तिष्क में शुभ निमित्तों का द्रव्य भर दें जिससे अशुभ निमित्तों का द्रव्य बाहर निकल जाए।

महानुभाव! अनित्य भावना का आशय हम इतना ही समझें कि शुभ निमित्तों के माध्यम से हम लाभ ले लें, यदि शुभ निमित्तों को दीर्घजीवी नहीं बना सकते तो जब तक वे हमारे पास हैं तब तक उनका सदुपयोग करने की कोशिश करें और अशुभ निमित्त हमारे पास आकर ठहरें उससे पहले ही उन्हें रवाना कर दें जिससे हम उसके अशुभ फल से बच सकें यही सम्यग्ज्ञानी का कर्तव्य है।

इस अनित्य भावना का निरंतर ही चिन्तवन करें तो आप नि:संदेह आत्मा की अनुभूति करने में समर्थ होंगे और परपदार्थों से आपको नियम से विरक्ति होगी। विरक्ति ही आत्मकल्याण का साक्षात् कारण है, साक्षात् मार्ग है, आप सब उसे प्राप्त करें इन्हीं शुभ भावनाओं के साथ....

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

अनित्य भावना संबंधित उपयोगी श्लोक व गाथाएँ

समुत्थितोऽस्तं रविरभ्युपैति विनाशमभ्येति पुनः प्रदीपः।
पयोदवृन्दं प्रलयं प्रयाति तथा मनुष्याः प्रलयं प्रयान्ति॥47॥

–सर्ग 28, वरांग चरित्र–आ. जटासिंहनन्दि

संसार के समस्त शुभकर्मों का प्रवर्तक रवि जब एक बार उदित होता है तो उसका अस्त भी अवश्यंभावी है। प्रज्ज्वलित किये गए मनोहर प्रदीप का बुझना भी अटल है तथा आकाश भित्ति पर भाँति–भाँति की चित्रकारी करने वाले मेघ भी क्षण भर में ही विलीन हो जाते हैं। मनुष्यों की भी यही गति है, जो उत्पन्न हुए हैं एक दिन उनका मरण अवश्य होता है।

संध्यातडिद्वह्निशिखाम्बुदोर्मि तृणाग्रलग्राम्बुकणश्रियं च।
समावृतीनीह च जीवितानि नृणामिति प्राहुरनित्यतायाः॥31/86॥

–वरांग च., आ. जटासिंहनन्दि

मनुष्यों के जीवन की सुषमा संध्या की लालिमा के सदृश ललाम है, विद्युत् प्रकाश की भाँति चंचल है, अग्नि की भभक के समान क्षण–स्थायी है, मेघ–चित्रों के समान विनाशी, लहरों के समान अस्थायी, दूव की पत्ती पर जमी इन्द्रधनुष की शोभा युक्त ओस की बूँद के समान ही मनुष्य जीवन हर ओर से अनित्यता से घिरा हुआ है।

गलत्येवायुरत्यर्थं हस्तन्यस्ताम्बुवत्क्षणे।
नलिनीदलसङ्क्रान्तं प्रालेयमिव योवनम्39॥

– ज्ञाना., आ. शुभचंद्र स्वामी

जिस प्रकार हाथ की अंजुलि पर रखा हुआ पानी क्षणभर में नष्ट हो जाता है उसी प्रकार प्राणियों की आयु भी क्षण-क्षण में अतिशय क्षीण होती जाती है, जिस प्रकार कमलिनी के पत्र पर पड़ी हुई मोती जैसी सुंदर ओस की बूंद शीघ्र ही बिखर जाती है उसी प्रकार प्राणियों का यौवन भी शीघ्र बिखर जाने वाला है।

परमट्ठेण दु आदा देवासुर-मणुव-राय-विभवेहिं।
वदिरित्तो सो अप्पा, सस्सदमिदि चिंतए णिच्चं॥7॥

–बारसा. आ. कुन्दकुन्द स्वामी

परमार्थ की अपेक्षा आत्मा देव, असुर, मनुष्य, राजाओं के वैभव से पृथक् है, और वह आत्मा शाश्वत है इस प्रकार नित्य ही चिंतन करना चाहिए।

अध्रुवाणि समस्तानि शरीरादीनि देहिनाम्।
तन्नाशेऽपि न कर्त्तव्य शोको दुष्कर्मकारणम्॥6/45॥

–प.पंच., (आ. पद्मनन्दि)

प्राणियों के शरीर आदि सब ही नश्वर हैं इसलिए उक्त शरीर आदि के नष्ट हो जाने पर भी शोक नहीं करना चाहिए क्योंकि वह शोक पाप बंध का कारण है, इस प्रकार का चिन्तवन करना अनित्य भावना है।

चंदो हीणो व पुणो वड्ढदि एदि य उदू अदीदो वि।
णदु जोव्वणं णियत्तइ णदीजलमदछिदं चेव॥17/7॥

—भ.आ., आ. शिवकोटि मुनिराज

प्रतिदिन राहु के मुखरूपी बिल में प्रवेश करने से चन्द्रमा कृष्ण पक्ष में घटता है और पुनः शुक्लपक्ष मे प्रतिदिन बढ़ता है तथा हेमन्त आदि ऋतुएँ भी जाकर पुनः लौटती हैं किन्तु बीता हुआ यौवन उसी भव मे नहीं लौटता जैसे नदी में गया जल फिर वापिस नहीं आता उसी प्रकार यौवन पुनः नहीं लौटता। वह अत्यन्त अनित्य है।

जम्मं मरणेण समं, संपज्जइ जोव्वणं जरासहियं।
लच्छी विणास सहिया, इय सव्वं भंगुरं मुणह॥5॥

—का.नु., आ. कार्त्तिकेय स्वामी

यह जन्म है सो मरण सहित है, यौवन है वह जरा सहित उत्पन्न होता है, लक्ष्मी है सो विनाश सहित उत्पन्न होती है इस प्रकार इन सब वस्तुओं को क्षणभंगुर, अनित्य जानो।

दृष्ट नष्टानि सौख्यानि स्फुरितानीव विद्युताम्।
बुद्बुदा इव निःशेषा नश्वराः सन्ति गोचराः॥1802॥

—मरण कंडिका, आ. अमितगतिजी

इंद्रियजन्य सुख बिजली के चमक के समान देखते-देखते नष्ट होने वाले हैं। संसार के उच्च पद एवं स्थान जल के बुलबुले के समान नश्वर हैं।

आयुश्चाक्षचयं बलं निजवपुः सर्वं कुटुम्बं धनं,
राज्यं वायुकदर्थिताम्बुलहरीतुल्यं जगच्चञ्चलम्।

ज्ञात्वेतीह शिवं जगत्त्रयहितं सौख्याम्बुधिं शाश्वतं,
दृक्चिद्वृत्तयमैर्द्रुतं बुधजना मुक्त्यै भजध्व सदा॥

–पार्श्व. चरितम्, आ. सकलकीर्ति, 15 सर्ग/14

आयु, इन्द्रिय समूह, शारीरिक बल, अपना शरीर, समस्त कुटुम्ब, धन, राज्य और जगत् वायु से ताड़ित जल की तरङ्ग के समान चञ्चल है ऐसा जानकर हे विद्वज्जन हो! मुक्ति प्राप्ति के लिए सदा दर्शन, ज्ञान, चारित्र तथा इन्द्रियदमन के द्वारा शीघ्र ही यहाँ उस मोक्ष की उपासना करो जो तीनों जगत् के लिए हितकारी है, सुख का सागर है तथा स्थायी है।

''न किंचित्संसारे ध्रुवमस्त्यात्मनो ज्ञानदर्शनोपयोग-स्वभावादन्य-दिति चिन्तमन-नित्यत्वानुप्रेक्षा।''

–चारित्रसार–चामुंडरायदेव कृत

संसार में आत्मा के ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग स्वभाव के सिवाय और कुछ भी नित्य नहीं है, इस प्रकार चिंतवन करना अनित्यानुप्रेक्षा है।

जीवितं चपलं पुंसां प्रार्दर्भजलोपमं।
चाक्षार्थाः स्वजना विश्वे कामार्थाः क्षणभंगुराः॥

5 परिच्छेद/102,

–श्री मल्लिनाथ पुराण, आ. सकलकीर्तिजी)

प्रातःकाल में जिस प्रकार दर्भ की अनी पर लगी हुई जल की बूंद अत्यन्त चंचल क्षणविनाशक होती है, उसी

प्रकार मनुष्यों का जीवन भी अत्यन्त चंचल और विनाशक तथा इन्द्रियों के विषय, बंधु-बांधव आदि स्वजन एवं संसार के समस्त काम-भोग क्षणभंगुर हैं।

विपत्संपदि जागर्ति जरा जागर्ति यौवने।
मृत्युरायुषि जागर्ति वियोगः प्रियसंगमे॥

–15 सर्ग/135, श्री चन्द्रप्रभ च. (आ. वीरनन्दिजी)

सम्पत्ति होने पर विपत्ति उस (सम्पत्ति) का स्थान पाने के लिए जागरूक रहती है, यौवन आने पर बुढ़ापा उसे नष्ट करने की ताक में रहता है, आयु या जीवन प्राप्त होने पर मृत्यु उसे घातने के लिए सावधान रहती है और इष्ट का समागम होने पर वियोग उसका जागरण करता है। सम्पत्ति के बाद विपत्ति, यौवन के बाद बुढ़ापा, जीवन के बाद मरण और प्रिय के समागम के बाद उसका वियोग निश्चित है इस प्रकार से चिन्तवन करना अनित्य भावना है।

क्रोडी करोति प्रथमं जात-जन्तुमनित्यता।
धात्री च जननी पश्चाइ धिग् मानुष्यमसारकम्॥

–6 अधि/31 तत्त्वार्थसार (आ. अमृतचंद्र सूरि)

इस प्राणी को उत्पन्न होते ही प्रथम तो अनित्यता गोद में लेती है और बाद में माता तथा धाय गोद में ले सकती है इसलिए इस असार मनुष्य जन्म को धिक्कार हो।

अक्ख-विसयभूदाइं, लोयम्मि रम्मारम्म-वत्थूइं।
गगणचवला व्व तेसुं, णाणी कया वि णो रज्जेदि॥19॥

—अनुप्रेक्षासार, आ. वसुनंदी मुनि

इस लोक में इन्द्रियों की विषयभूत रम्य-अरम्य वस्तुएँ आकाश में चमकने वाली बिजली के समान नश्वर हैं, ज्ञानी उसमें कभी भी रंजायमान नहीं होता, इस प्रकार का चिन्तवन करना अनित्यानुप्रेक्षा है।

इमानि शरीरेन्द्रियविषयोपभोगद्रव्याणि समुदयरूपाणि जलबुद्बुद्वदनवस्थित-स्वभावानि गर्भादिष्ववस्थाविशेषेषुसदोपलभ्यमानसंयोगविपर्ययाणि, मोहादत्राज्ञो नित्यतां मन्यते। न किंचित् संसारे समुदितं ध्रुवमस्ति आत्मनो ज्ञानदर्शनोपयोग-स्वभावादन्यदिति चिन्तनमनित्यतानुप्रेक्षा। —स.सि., आ. पूज्यपाद स्वामी

ये समुदायरूप शरीर, इन्द्रियविषय, उपभोग और परिभोग द्रव्य जल के बुलबुले के समान अनवस्थित स्वभाव वाले हैं तथा गर्भादि अवस्थाविशेषों में सदा प्राप्त होने वाले संयोगों से विपरीत स्वभाव वाले हैं। मोहवश अज्ञ प्राणी इसमें नित्यता का अनुभव करता है पर वस्तुतः आत्मा के ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग स्वभाव के सिवा इस संसार में अन्य कोई भी पदार्थ ध्रुव नहीं है इस प्रकार चिन्तवन करना अनित्यानुप्रेक्षा है।

पुत्रमित्र - कलत्रादि रथादि यानमुत्तमम्।
सम्पदा विविधा राज्यं पत्तनं धनं संकुलम्॥10/43
जीवितं यौवनं यान शयनं भवनं तथा।
शरीरं सज्जनो बन्धुः कुटुम्बं दुर्जनोऽपि च॥10/44॥
तत्सर्वं क्षणध्वंसि चञ्चलायाश्च चञ्चलम्।
इत्थं मत्वा जगद् विश्वं क्व वा प्रीतिर्विधायते॥10/45

–श्रीपाल चरित्र (आ. सकलकीर्ति जी)

पुत्र-मित्र-स्त्री आदि, उत्तम रथ, यान आदि, राज्य, पत्तन, सम्पदा, अटूट वैभव, जीवन, यौवन, विमान, शैय्या, आसन, भवन, शरीर, सज्जन, बंधु, कुटुम्ब और दुर्जन भी चंचल बिजली के समान क्षणध्वंसी हैं ऐसा मानकर इस संसार में कहाँ प्रीति करूँ? इस प्रकार चिन्तवन करना अनित्य भावना है।

जम्मं मरणेन समं, संपज्जइ जुब्बणं जरा सहियं।
लच्छी विणास सहिया, इय सव्वं भंगुरं मुणह॥

–श्री यशोधर च., महाकवि पुष्पदंत

जो जन्म है वह मरण सहित है, यौवन है वह जरा सहित उत्पन्न होता है और जो यह लक्ष्मी है वह विनाश सहित है, इस प्रकार सर्व वस्तु को भंगुर (विनाश सहित) ही ज्ञात करो।

तत्र नित्यमिति यत्र मूर्च्छना स्थान देह धन सौख्यबन्धुषु।
तत्र किञ्चिदपि नास्ति नित्यता आत्मनोऽन्यदिति चिन्तयत्यसौ॥
63/79॥

–हरिवंश पुराण, आ. जिनसेन स्वामी

जिन महल, शरीर, धन, सांसारिक सुख और बंधुजनों में 'ये नित्य है', यह समझकर ममताभाव उत्पन्न होता है। उनमें आत्मा के सिवाय किसी में भी नित्यता नहीं है, सभी क्षणभंगुर हैं, इसी प्रकार का चिन्तवन करना अनित्य भावना है।

2.

अशरण अनुप्रेक्षा

पंचानन मृग जीव को, सहसा पकड़े आए।
आयु शाख ज्यों ही कटे, जीव विहग उड़ जाए॥
जीव विहग उड़ जाए, बचावन को न समर्था।
इन्द्र हरि बल चक्र, सभी यति भी असमर्था॥
कहें सूरि वसुनंदी, मंत्र मणि औषधि कानन।
लूटे नगरी देह, स्वछंदी ये पंचानन॥

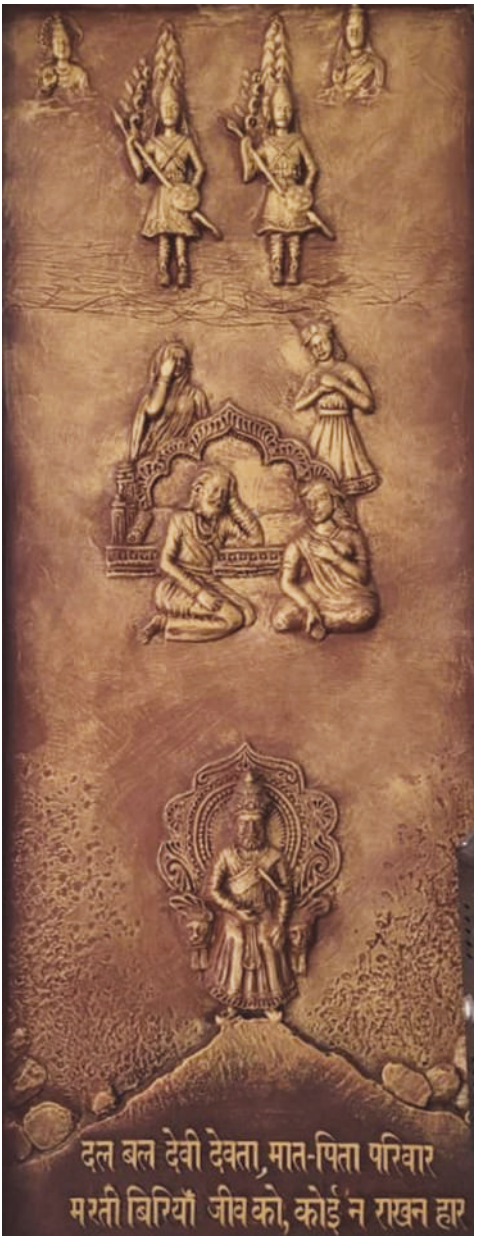
दल बल देवी देवता, मात-पिता परिवार
मरती बिरियाँ जीव को, कोई न राखन हार

अशरण अनुप्रेक्षा

महानुभाव!

जो अनित्य है, जो अध्रुव है उसके बारे में बार-बार सोचना, जो अथिर है उसे ही देखते जाना। क्यों? क्योंकि, जिससे हमारे आत्मप्रदेशों में यथार्थ बोध हो जाए। कहीं भी आत्मा के प्रदेशों में अथिर, अनित्य या अध्रुव पदार्थों के प्रति राग न रहे, उसके प्रति पूर्ण विरक्ति हो जाए। अनित्य अनुप्रेक्षा अध्रुव पदार्थों से विरक्त परिणाम जागृत करने के लिए है। जब अनित्य का बोध हो जाता है तब व्यक्ति सोचता है कि नित्य क्या है जिसके पास मैं जाऊँ, उसे प्राप्त करूँ।

द्वितीय अनुप्रेक्षा आती है 'अशरण अनुप्रेक्षा'। अशरण का अर्थ हुआ 'शरण नहीं है'। कहाँ नहीं है शरण? शरण उसको नहीं है जो शरण खोज रहा है, जो शरण खोजता ही नहीं, चाहता ही नहीं, अपने आप में पूर्ण रूप से स्वतंत्र हो चुका है, आत्मा की पूर्ण सत्ता को प्राप्त कर लिया है, पूर्ण स्वातन्त्र भाव को प्राप्त कर लिया है, उसे शरण खोजने की आवश्यकता नहीं। शरण खोजता है भयभीत व्यक्ति, शरण खोजता है अधूरा व्यक्ति, शरण खोजता है मार्गी, शरण खोजता है जिसे अपने कुछ छिन जाने का, लुट जाने का, नष्ट हो जाने का भय हो। जिसे इस बात का भय नहीं है उसे शरण खोजने की आवश्यकता नहीं। नि:शंकित व्यक्ति ही नि:कांक्षित हो सकता है, और नि:कांक्षित व्यक्ति ही पर की शरण का त्याग कर सकता है।

शरण शब्द का अर्थ आप सभी लोग जानते हैं आश्रय या सहारा। सहारा या आश्रय अपनी रक्षा के लिए लिये जाते हैं, जिन्हें प्राप्त करके रक्षा हो, किसकी रक्षा? अपने अस्तित्व की रक्षा। क्या है मेरा अस्तित्व। कोई व्यक्ति अपना अस्तित्व अपने शरीर तक मानता है, कोई व्यक्ति अपना अस्तित्व अपने कुटुम्ब परिवार तक मानता है, कोई व्यक्ति अपना अस्तित्व जहाँ तक खून का संबंध है वहाँ तक मानता है या रिश्ते-नाते, ग्राम, मौहल्ला, नगर, देश तक मानता है किन्तु जिस जिसमें वह अपना अस्तित्व मानता है उसके खण्डित होने पर उसे दु:ख होता है इसलिए वह परोक्ष में अपने ही अस्तित्व की रक्षा करता है।

जब तक अपने यथार्थ अस्तित्व का बोध नहीं होगा तब तक यह जीव दूसरों का आश्रय खोजता ही रहेगा। जिस क्षण इस जीव को अपने शुद्ध अस्तित्व का बोध हो जाता है, आत्मा का बोध हो जाता है उस समय वह निर्भीक हो जाता है, निशंक व नि:कांक्षित हो जाता है, निर्मोही बन जाता है। फिर उसके विकार भी उसी प्रकार विगलित होने लगते हैं जैसे धूप और हवा के चलने से बर्फ की डली गलने लगती है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान के होने पर मिथ्यात्व गलने लगता है, सम्यक्त्व, चारित्र अंकुरित होने लगते हैं, पल्लवित, पुष्पित, फलित होने लगते हैं।

महानुभाव! अशरण व्यक्ति जब भी शरण खोजता है प्राय:कर उनकी शरण ले लेता है जो स्वयं अपने आप में अशरण हैं। शरण उसकी ली जाती है जिस पर भरोसा

हो, विश्वास हो और विश्वास उसका करना चाहिए जो शाश्वत हो, क्योंकि जो नित्य नहीं है, शाश्वत नहीं है उस पर विश्वास करने से कोई लाभ नहीं है। शाश्वत, ध्रुव व नित्य पर विश्वास करो, जब विश्वास हो जाए तभी उसकी शरण लो अन्यथा अशाश्वत की शरण लेने पर, जिसकी शरण ली है वही जब नष्ट हो जाएगा तो व्यक्ति को बहुत दु:ख होगा। जब-जब भी व्यक्ति की अपेक्षाएँ टूटती हैं तो उसका मन बहुत दु:खी होता है। फिर वह कहता है मैंने तो ऐसा कभी सोचा नहीं था कि ऐसा भी हो सकता है, मुझे नहीं पता था कि इसका वियोग हो जाएगा, वस्तु नष्ट हो जाएगी। यदि मुझे पता होता तो मैं इसका सहारा क्यों लेता। जिस नाव में बैठा वह डूब गई इसलिए दु:ख ज्यादा है इससे अच्छा तो बिना नाव के चला जाता।

व्यक्ति शरण तो लेता है किन्तु सत्य को जान नहीं पाता। वह मोह में ऐसा डूबा रहता है कि उन्हीं की शरण लेता चला जाता है जो-जो नष्ट होने वाला है। बुद्धिमान् व्यक्ति जो नष्ट होने वाला है उसकी कभी भी शरण नहीं लेते तथा जो दूसरों की रक्षा करने में असमर्थ है; बुद्धिमान् व्यक्ति उनकी भी शरण नहीं लेते। धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, कालद्रव्य और पुद्गल ये सभी द्रव्यत्व की अपेक्षा से शाश्वत हैं किन्तु हमारे स्वरूप की रक्षा करने में असमर्थ हैं, हमारे स्वभाव की रक्षा करने में असमर्थ हैं, इनके रहते हुए भी हमारी आत्मा में विकार आ जाता है इसलिए इनकी शरण तो ली नहीं जा सकती, फिर किसकी

शरण लेना? शरण लेना है उनकी जो शाश्वत है। क्या है शाश्वत? शाश्वत है धर्म, धर्म को धारण करने वाले, धर्म का आचरण करने वाले, धर्म का उपदेश देने वाले अर्थात् धर्म शाश्वत है।

महानुभाव! आचार्यों ने लिखा है कि सिंह के द्वारा पकड़े हुए हरिण का कोई रक्षक हो सकता है, बड़ी मछली द्वारा पकड़ी गई छोटी मछली का कोई रक्षक हो सकता है किन्तु कर्म द्वारा पकड़े हुए उस जीव का कोई भी रक्षक नहीं, मात्र एक धर्म ही रक्षक होता है। प्रथमानुयोग में ऐसे अनेकानेक उदाहरण हैं जब महासतियों पर, महापुरुषों पर उपसर्ग आये, पाप कर्म के उदय में जब सभी शरण अशरण हो गई तब उन्होंने मात्र एक जिनधर्म की शरण को ही स्वीकार किया।

महासती सीता जो राजा जनक की पुत्री, भामण्डल की बहिन, महामंडलेश्वर राजा दशरथ की पुत्रवधू, अष्टम बलभद्र श्री राम की पत्नी व त्रिखण्डाधिपति नारायण लक्ष्मण की भावेज थी, पर जब स्वयं के ही पापकर्म का उदय आया, पूर्वभव में जब मुनि-आर्यिका का अपवाद किया था उस घोर कर्मोदय के समय किसी ने उसका साथ नहीं दिया। सीता का रावण द्वारा छल से हरण किया गया पुनः जब युद्ध के बाद श्रीराम के पास पहुँची और सुख को प्राप्त हुई किन्तु कर्म कभी किसी का सगा नहीं होता और कुछ समय पश्चात् पापोदय के कारण वह सीता निन्दारूपी सर्पी द्वारा डसी गई अर्थात् उसका लोकापवाद होने लगा कि यह गर्भवती है यह रावण के यहाँ रहकर आयी है। बिना

दोष के भी वह सती सीता कृतान्तवक्र सेनापति द्वारा छल से ही मंदिरों के दर्शन के बहाने से भयंकर सिंहरवा नामक अटवी में छुड़वा दी गई। ऐसा भयंकर वन जहाँ मनुष्य का नाम-निशान नहीं।

उस समय सीता के लिये न माता की शरण, न भाई-बंधु की शरण, न कुटुम्बीजनों की शरण; उस समय तो उसके लिए मृगों से व्याप्त वन ही शरण था; किन्तु अंतरंग में तो उसके एक मात्र धर्म की ही शरण थी। वह भयंकर अटवी जहाँ हिंसक जानवरों का समूह यमराज को भी भय उत्पन्न कराने वाला हो, जहाँ हाथी चिंघाड रहे हों, रीछ चिल्ला रहे हों, बड़े-बड़े अजगर-सर्प विचरण कर रहे हों, जो वन सेहियों के द्वारा छोड़े गये काँटों से भयंकर हों ऐसे महावन में छोड़ी गई सीता जो क्षणभर भी प्राण धारण करने में समर्थ नहीं थी; यदि वहाँ कोई रक्षक था तो मात्र एक आत्मधर्म ही उसका रक्षक था और सत्य है–

अनाथानामबन्धूनां, दरिद्राणां सुदुःखिनाम्।
जिनशासनमेतद्धि, शरणं परमं मतम्॥70॥

–पद्मपुराण, सर्ग-104

यथार्थ में अनाथ, अबन्धु, दरिद्र तथा अत्यन्त दुःखी मनुष्यों का जिनशासन ही परम शरण है।

पुनः सीता ने उस समय गर्भ के अनेक कष्टों को समता से सहन किया, लवणांकुश-मदनांकुश को जन्म दिया, उनका लालन-पोषण व शिक्षा देकर उन्हें हर विद्या-कला में पारंगत भी किया। जब सीता पुनः अयोध्यानगरी पहुँची तब

भी कर्मों ने उनका साथ नहीं छोड़ा। यद्यपि राम जानते थे कि सीता निर्दोष है, वे उनके शीलव्रत धर्म की पवित्रता को जानते थे किन्तु फिर भी उन्होंने उस समय सीता से कहा कि सीता! तुम इस अपवाद को प्राप्त हुई हो इसलिए इस प्रजा को विश्वास दिलाओ और उनकी शंका को दूर करो। उस समय भी सीता ने अपना धैर्य नही खोया और हर्षपूर्वक कहा कि मैं पाँच दिव्य शपथों से लोगों को विश्वास दिलाती हूँ अर्थात् मैं सर्व प्रकार की परीक्षा दे सकती हूँ। चाहो तो मैं हलाहल कालकूट विष पी सकती हूँ? ऐसा विष जिसे सूंघकर आशीविषसर्प भी तत्काल भस्मपने को प्राप्त हो जाए। अथवा मैं तुला पर चढ़ सकती हूँ अथवा भयंकर अग्नि में प्रवेश कर सकती हूँ। इस प्रकार राम द्वारा सीता की अग्नि परीक्षा की घोषणा की गई।

महानुभाव! यह बात सर्वत्र फैल गई कि सीता अपने शील की परीक्षा के लिये अग्निकुंड में प्रवेश करेगी। वह समय आया जब सीता अग्निकुंड के समक्ष खड़ी थी उस समय सीता ने मात्र पंचनमस्कार मंत्र का स्मरण किया और पंचपरमेष्ठी भगवान् की शरण को ग्रहण किया, कायोत्सर्ग किया, श्रीजिनेन्द्र प्रभु की स्तुति की। कहा– हे भगवन्! मैंने राम के सिवाय किसी अन्य मनुष्य को मन में भी धारण नहीं किया यह मेरा सत्य है, यदि मैं मिथ्या कह रही हूँ तो यह आग मुझे भस्म कर दे। इतना कहकर प्रभु परमात्मा को हृदय में धारणकर सीता अग्निकुंड में कूद गई परन्तु आश्चर्य की बात वह अग्नि स्फटिक से समान सुखदायी

शीतल जल हो गई। वह अग्निकुंड वापिका में परिवर्तित हो गया, जिसमें सहस्रदल कमल प्रकट हुआ, और उस कमल के मध्य सिंहासन स्थित हुआ जिस पर सीता को विराजमान किया गया। सर्वत्र चहुँ ओर जय-जयकार गूँज उठी। पुनः राम ने सीता से क्षमा याचना की और महलों में चलने का निवेदन किया। किन्तु सीता ने कहा अब मैं महलों में नहीं जाऊँगी, अब तो मैं वह कार्य करूँगी जिससे मुझे स्त्री न होना पड़े। मैने संसार में देख लिया कोई किसी का शरण नहीं। अब मुझे इन भोगों से कोई प्रयोजन नहीं अब तो मैं सिर्फ और सिर्फ केवलीप्रणीत जिनधर्म की शरण को ही प्राप्त करूँगी। इतना कहकर सीता ने पृथ्वीमति आर्यिका के पास जिनदीक्षा को धारण किया और उग्र-उग्र तप कर स्वर्ग में देव पर्याय को प्राप्त किया।

महानुभाव! धर्म का फल जिसने प्राप्त कर लिया है वह परमात्मा शाश्वत है। उस धर्म का पालन करने वाले संत-महात्मा हैं। इसलिए कहा–

देव-शास्त्र-गुरु धर्म जगत में और नहीं कोई।

क्योंकि ये शाश्वत हैं। यदि अशाश्वत होते तो इनकी भी शरण नहीं ली जाती। किन्तु महानुभाव! ये सभी शरण व्यवहार में हैं। कहते हैं निश्चय में आत्मा की शरण आत्मा में है। किन्तु जब आत्मा निश्चय को प्राप्त कर लेती है तो फिर आत्मा आत्मा की शरण भी नहीं जाती। निश्चय में भेद नहीं। शरण देने वाला अलग है, लेने वाला अलग है। अलग-अलग हैं तब तक व्यवहार रहेगा और निश्चय

में जब अभेद हो जाता है तब न कोई शरण देने वाला है न कोई शरण लेने वाला है, न कोई उपासक है न कोई उपास्य है, न कोई आराधक है न आराध्य है। व्यक्ति जब तक शरण को प्राप्त होता है तब तक पूर्ण रूप से जागृत नहीं हो सकता, निःकांक्षित नहीं हो सकता। तब तक वह निश्चल नहीं हो सकता, निश्छल नहीं हो सकता, निर्विकारी नहीं हो सकता, निर्मोही नहीं हो सकता।

महानुभाव! इसीलिये व्यक्ति को व्यवहार में समझ लेना आवश्यक हो जाता है। जिस क्षण व्यक्ति के अंतरंग के नेत्र खुल जाते हैं उस समय उसे आत्मा पर पूर्ण भरोसा हो जाता है और आत्मा की शक्ति का परिज्ञान हो जाता है। शुद्धोपयोगी योगी के लिये जब आत्मा का अनुभव हो जाता है तब वह किसी की शरण नहीं खोजता, फिर वह सोचता है यह आत्मा तो स्वयं ऐसा द्रव्य है जिसका आश्रय लेकर लोग अपनी आत्मा को परमात्मा बना सकते हैं। बस मेरे लिये परमात्मा का इतना ही सहारा पर्याप्त है।

महानुभाव! व्यक्ति धन का एवं अपने परिजन-पुरजन, कुटुम्बीजन एवं अपने मित्रों आदि का सहारा लेकर अपनी सुरक्षा का एक परकोटा बना लेते हैं किन्तु जितनी-जितनी बाह्य सुरक्षा बढ़ायी जाती है उतनी-उतनी आत्मा असुरक्षित होती जाती है। सत्यता ये है कि जिनमें हम सुरक्षा खोज रहे हैं, जिनमें हम शरण खोज रहे हैं वही वास्तव में अशरण है। आचार्य भगवन् श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने ''बारसाणुवेक्खा'' में निरूपित किया है–

मणिमंतोसहरक्खा, हय-गय-रहओयसयल-विज्जाओ।
जीवाणं णहि सरणं, तिसु लोए मरणसमयम्हि॥8॥

जब तक जीव का पुण्य का उदय रहता है तब तक सब कोई साथ देता है, रक्षा करता है किन्तु पुण्य के क्षीण होते ही रक्षक भी भक्षक बन जाता है, मित्र भी शत्रु बन जाता है। जिसे वह अपना समझता है वह भी साथ छोड़ जाता है। आदिपुराण में एक कथा है विद्याधर राजा अरविंद की। जिसने रौद्रध्यान के चिन्तन से नरकायु का बंध कर लिया था। जब मृत्युकाल निकट आया तो उसे दु:सह संतापकारी दाहज्वर निरन्तर पीड़ा देने लगा। उसे किसी प्रकार शांति नहीं मिल पा रही थी। पुण्य क्षय होने से उसकी समस्त विद्याएँ भी उसे छोड़कर चली गयी थीं। सही ही तो है पुण्य क्षीण होने पर जिन्हें हम अपना मानते हैं वे अपने भी साथ छोड़कर चले जाते हैं। पुन: उस राजा ने अपने पुत्र हरिचन्द्र को बुलाकर कहा–पुत्र! तुम मुझे अपनी विद्याओं द्वारा उत्तरकुरु देश में सीतोदा नदी के तट पर स्थित अति शीतल वनों में भेज दो, वहीं मेरी दाह शान्त हो सकती है। तब पुत्र ने अपनी आकाशगामिनी विद्या भेजी परन्तु राजा अरविंद के क्षीण पुण्य के कारण विद्या भी कुछ नहीं कर सकी।

महानुभाव! इस संसार में कोई शरण नहीं है। जब तक जीव का अपना पुण्य ना हो तब तक इस जीव का कोई उपकार नहीं कर सकता। प्रथमानुयोग में एक नहीं सैकड़ों उदाहरण मिलते हैं कि जिस व्यक्ति के पुण्योदय में उसे हर

ओर अपने रक्षक और सहायक दृष्टिगोचर होते थे, पाप के उदय में वह ही असहायी ज्ञात होते हैं।

राजा द्रुपद की पुत्री राजकुमारी द्रोपदी जो सुखों की शीतल छाँव में पली-बढ़ी, जिसकी सेवा में समस्त दास-दासी इत्यादि नियुक्त थे। विवाह भी हुआ तो सर्वश्रेष्ठ धनुर्धारी अर्जुन से। किन्तु देखो जब पाप कर्म का उदय आया तब युधिष्ठिर के द्वारा द्यूतक्रीड़ा में हार जाने के पश्चात् उस सुकुमारी सती द्रोपदी को दु:शासन अंत:पुर से उसकी केशराशि को मुट्ठि में पकड़कर उसे खींचता हुआ बाहर लाया। उसके केश बिखर गए, वस्त्र अस्त-व्यस्त हो गए। वह जोर-जोर से रोती हुई कहने लगी–धिक्कार है ऐसे शक्तिशाली पांडवों को जिनकी उपस्थिति में मेरी ऐसी दुर्गति हुई है, घोर अपमान हुआ है। 'मैं अबला हूँ' इस दुष्ट का कुछ प्रतीकार नहीं कर सकती किन्तु आप लोगों को तो रक्षा करनी चाहिए। किन्तु इतना सब होने पर भी उस समय क्षीण पुण्य होने से सती द्रोपदी रानी की रक्षा कोई न कर सका, कोई शरण नहीं हुआ, कोई सहायक नहीं बन सका। यथार्थ में इस संसार में कोई शरण नहीं है। संसार में हम जिन्हें शरण मान रहे हैं वे तो स्वयं अशरण हैं, वो हमें क्या शरण दे सकते हैं। जो क्षणभंगुर हैं, जो स्वयं क्षण-क्षण में विनाशीक पदार्थ हैं वे अनित्य व अस्थिर पदार्थ शरणभूत नहीं हो सकते।

जिस प्रकार कोई कौआ महासागर में चलते हुए जहाज से उड़ जाए तो फिर उसे कहीं भी शरण नहीं

मिल सकती, उसी प्रकार जब यह मृत्यु जीव को पकड़ लेती है तब इसको कोई शरण नहीं होता, इस संसार में तीनों लोकों में एक शूरवीर यमराज से बचाने के लिए करोड़ों उत्तमोत्तम प्रयत्न करने पर भी धन, स्वजन, परजन, मंत्र, तंत्र आदि कोई समर्थ नहीं हो सकते और तो और शरणभूत कोई उपाय भी सूझता तो वह ज्यों-ज्यों जिस-जिस को शाश्वत शरण मानकर पीछे-पीछे भागता त्यों-त्यों उसके हाथ निराशा ही लगती है। क्योंकि जब तीव्र पापकर्म का उदय आता है तब हेय-उपादेय तत्त्व का विचार करने वाली बुद्धि भी नष्ट हो जाती है, अमृत भी विष जैसा बन जाता है, तृण भी शस्त्र जैसा घातक हो जाता है।

संसारी जीवों के पाप कर्मों का उदय आने पर बड़े-बड़े सहस्रभट, कोटिभट आदि योद्धा भी सहायक रक्षक नहीं बन पाते। साम, दाम, दण्ड, भेद कोई उपाय कार्यकारी नहीं होते हैं। कुछ निधत्ति आदि तीव्र स्वभाव वाले पाप कर्मों द्वारा दिये जाने वाले जन्म-मरण-जरा-पीड़ा-दुःख-शोक-भय आदि जीव को भोगने ही पड़ते हैं, उस वक्त तीनों लोकों में कोई शरण-सहायक नहीं मिलता। तीव्र पापोदय से युक्त जीव चाहे पाताल में प्रविष्ट हो जाए तो भी उस कर्म द्वारा छूट नहीं सकता। यह जीव चाहे पर्वत के किले-गढ़ आदि में चला जाए या पृथ्वी के अंदर धँस जाए, वन में और समुद्र में भी छिप जाए किन्तु उदीरणा को प्राप्त हुए कर्म द्वारा छोड़ा नहीं जाता यानि उक्त स्थानों पर भी कर्म अपना फल अवश्य देता है।

महानुभाव! जब व्यक्ति का पाप का उदय आता है तब उसे बोध होता है कि हमसे भूल हुई, भ्रम हुआ था जो हमने अस्थिर को, अनित्य को नित्य मान लिया था, अध्रुव को ध्रुव मान लिया था इसीलिए अशरण भावना के पहले अनित्य भावना का चिंतवन करना बहुत जरूरी है, जिससे बोध हो जाए कि ये सब तो अनित्य है, अध्रुव है, अस्थिर है, इस पर विश्वास नहीं करना, इनकी शरण में नहीं जाना। जब-जब भी व्यक्ति काल का शिकार होता है तो जितने भी सुरक्षाकवच हैं वे बाहर के सुरक्षा कवच ज्यों की त्यों बने रहते हैं किन्तु यह अंतरंग का सुरक्षा कवच सबसे पहले टूट जाता है और आत्मा को शरीर छोड़कर जाना पड़ता है।

महानुभाव! विदेह क्षेत्र के पुण्डरीक देश के चक्रधर नगर में त्रिभुवनानंद चक्रवर्ती अपने पुण्य फल को भोग रहा था। उसकी पुत्री का नाम अनंगसरा था। एक समय त्रिभुवनानंद के पुनर्वसु नामक सामन्त ने अनंगसरा का अपहरण कर लिया। पुनः त्रिभुवनानन्द से युद्ध में हारते हुए उस पुनर्वसु ने अनंगसरा को पर्णलघ्वी नामक विद्या से श्वापद अटवी में उतार दिया। षट्खंडाधिपति की पुत्री, जिसके आगे-पीछे दासियों-सखियों इत्यादि का समूह रहता था वह आज भयावह जंगली पशुओं से युक्त भयंकर अटवी में अकेले रुदन कर रही है, चिल्ला रही है कि कोई तो मेरी रक्षा करो। मैं इंद्र के समान पराक्रमी चक्रवर्ती पिता की महास्नेह से पाली गई पुत्री हूँ, पिता जी! आप तो मुझ पर करुणा करो। हे माँ! आप तो मुझे खेल-खेल में भी कभी

दु:खी नहीं होने देती थी आप तो मुझे यहाँ से निकालो। आज मुझे कोई परिजन दिखाई नहीं दे रहा, अरे! आपने तो एक क्षण भी कभी मुझे अकेला नहीं छोड़ा फिर इस समय मुझे क्यों अकेला छोड़ रहे हो। इस प्रकार वह बहुत लंबे समय तक करुण विलाप करती रही किन्तु कोई भी उसकी सहायता के लिए नहीं आया।

तब वह समझ गई संसार में कोई शरण नहीं है। वास्तव में संसार में कोई किसी के लिए शरणभूत नहीं है। तब वह शाश्वत जिनधर्म की शरण प्राप्तकर 3000 वर्ष तक तप करती है और अंत में सल्लेखना स्वीकार कर ली। एक बार लब्धिदास नामक व्यक्ति के माध्यम से चक्रवर्ती को अपनी पुत्री की सूचना प्राप्त हुई। सूचना प्राप्त होते ही वह उस अटवी में पहुँचा। किंतु जब वह वहाँ पहुँचा तो एक बड़ा मोटा अजगर उसे खा रहा था। तब इस दृश्य को देखकर चक्रवर्ती को भी वैराग्य हो गया और उसने 22000 पुत्रों के साथ दीक्षा ग्रहण की।

महानुभाव! आत्मा का सबसे निकटतम सुरक्षा कवच है देह और मृत्यु के समय देह ही छूटती है, देह का दरवाजा खुल जाता है आत्मा कहीं से भी निकल जाती है, बाहर की सभी सुरक्षा की जितनी भी व्यवस्थाएँ हैं वे ज्यों की त्यों बनी रहती हैं चाहे तुमने बॉडीगार्ड 50 लगाये हों या 100 वे ज्यों की त्यों रह सकते हैं, शरीर जिसको निरोगी बनाने में आप लगे हो, हो सकता है वह निरोगी भी बना रहे किन्तु फिर भी आत्मा के प्रदेश कहाँ से कूच कर गये ये आपने

सोचा भी नहीं होगा, क्योंकि आप सोच रहे थे कि मृत्यु बाहर से आएगी मैं सुरक्षा कर लूँगा किन्तु मृत्यु बाहर से नहीं आती है मृत्यु तो अंतरंग में आत्मा के प्रदेशों में बैठी रहती है, इसीलिए मृत्यु से रक्षा कैसे कर पाओगे। जहाँ पर जीवन है वही पर मृत्यु है, जीवन और मृत्यु अलग-अलग नहीं हैं, एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जब तक सिक्का चित होता है तब तक दिखाई दे रहा है मेरा जीवन है किन्तु सिक्का जैसे ही उल्टा हो जाता है तब समझ में आता है मृत्यु आ गई। इस प्रकार ये क्रम चलता रहता है।

कभी भी इस क्रम को बंद नहीं किया जा सकता, जब तक सिक्का रहेगा तब तक क्रम तो चलेगा। नदी जब तक रहेगी तब तक दोनों किनारे भी रहेंगे, कभी नदी का बहाव इस किनारे पर ज्यादा होता है कभी उस किनारे पर ज्यादा होता है, किन्तु किनारे हैं तो नदी है, नदी है तो किनारे हैं इसलिए शरण यदि हमें खोजना है तो शाश्वत शरण खोजना है।

राजा महेन्द्र की पुत्री एवं 100 भाइयों की इकलौती बहिन अंजना का विवाह राजा प्रह्लाद के पुत्र पवनंजय के साथ हुआ। जब सासु माँ केतुमति ने उसे कलंक लगाकर महलों से निकाल दिया तब उस अंजना को उसके पिता, माँ व 100 भाइयों ने भी शरण नहीं दी। ससुराल के साथ मायके के दरवाजे भी बंद हो गए। दुनिया के सारे दरवाजे भी बंद हो जाएँ किन्तु एक दरवाजा है जो कभी किसी के लिए भी बंद नहीं होता और वह है धर्म का दरवाजा।

जिनधर्म शाश्वत है और इस शाश्वत धर्म की शरण लेने वाला ही शाश्वत पद को प्राप्त करने में समर्थ हो सकता है।

आचार्य भगवन् पूज्यपाद स्वामी ने कहा–''आत्मैव गुरुरात्मनः'' आत्मा ही आत्मा का गुरु है। जीव के लिए वही शाश्वत शरण है।

महानुभाव! किसी देश में एक प्रजावत्सल, धर्मात्मा, कर्तव्यनिष्ठ एवं अदम्य साहसी राजा अपनी प्रजा का न्यायपूर्वक पालन करता हुआ राज्य का संचालन कर रहा था। राजा अपने आप में संतुष्ट था। वह अन्य राजाओं के मध्य आदर्श व उत्कृष्टपने को प्राप्त था। एक दिन राजा जब वनविहार को गया तब वहाँ उसने एक महात्मा जी को देखा और उनकी चरण वंदना की, पुनः राजमहल की ओर लौटने लगा। महात्मा जी ने कहा–राजन्! यह नरभव केवल राज्य करने के लिए नहीं मिला, केवल प्रजा पर शासन करने के लिए नहीं मिला, यह नरभव केवल बाह्यशत्रुओं को जीतने के लिए भी नहीं मिला और न ही कुछ भूमि के टुकड़ों पर अपने नाम का पटला लगाने को मिला है यह नरभव अनेक राजकन्याओं को प्राप्त कर भोग भोगने के लिए भी नहीं मिला। राजा ने पूछा–फिर महात्मन्! इस नरभव का क्या करना है? राजन्! इस नरभव को प्राप्त करके अपनी आत्मा का हित करना है। आत्मा का हित कैसे होगा? आत्मा का हित अहित के मार्ग का त्याग करने से होगा? अहित क्या है? अहित वह है जो हमारी आत्मा को दुर्गति की ओर ले जाए, जो आत्मा को दुःख दे, उसकी दुरावस्था करे ऐसा पाप, पाप कार्य व पाप का मार्ग सब अहित है।

आत्मा का हित तो शाश्वत सुख प्राप्त करने में है और वह सुख मोक्ष में प्राप्त होता है। राजा बोला–महात्मन्! किन्तु मुझे तो अभी संसार का वैभव ही रुचिकर लग रहा है, यह संन्यास की भूमिका मुझे अभी रुचिकर नहीं है। महात्मा ने कहा–ठीक है, मैं तो अब सल्लेखना की ओर जा रहा हूँ, अपने प्राणों का विसर्जन करूँगा मेरा शरीर पूर्ण होने वाला है, आयु कर्म को बढ़ाया नहीं जा सकता इसलिए मैं आपकी निष्ठा, भक्ति व समर्पण को देखकर के कुछ देना चाहता हूँ। किन्तु मेरी एक शर्त है। शर्त यह है कि जो वस्तु मैं आपको दे रहा हूँ उस वस्तु का उपयोग तभी करोगे जब मैं कहूँगा, उससे पहले नहीं। राजा ने कहा–ठीक है महाराज। पर वह वस्तु क्या है? उसका उपयोग कैसे करना है? राजन्! जो मेरे गुरु थे उन्होंने बहुत वर्षों तक साधना की, मैं उनका अकेला शिष्य था। मैंने उनकी प्राणपन से सेवा की। एक बार मैंने उनसे पूछा–गुरुदेव! संसार का रहस्य क्या है? सार क्या है? उन्होंने मुझे बहुत समझाया कि यह संसार स्वार्थमय है, इसमें कोई किसी की शरण नहीं है, जीव अकेला ही आता है अकेला ही जाता है आदि-आदि बहुत बातें बताईं; किन्तु मेरी समझ में वे बातें नहीं आयीं। मुझे तो गुरु सेवा में जो आनंद आता था वह कहीं नहीं आता था। गुरुदेव ने सोचा मेरा शिष्य बहुत भोला-भाला है अब क्या करूँ, इसका हित कैसे करूँ? यह तो मेरे ही आश्रित है। फिर मेरे गुरु ने संन्यास (समाधि) ग्रहण करने

से पूर्व एक ताबीज जो उनकी भुजा पर बंधा था वह मुझे खोलकर दिया। राजन्! मेरे गुरु ने मुझे जो ताबीज दिया वही मैं तुम्हें दे रहा हूँ। यह ताबीज मेरे गुरु ने यह कहकर दिया था कि जब भी जीवन में सबसे बड़ा संकट आए, ऐसा लगे कि इसके आगे मृत्यु सुनिश्चित है, यह मेरा अंतिम पल है, इससे अधिक दु:ख संकट मेरे पास नहीं आ सकता उस समय ताबीज को खोलकर देख लेना। गुरुदेव की यह शर्त मैंने स्वीकार की किंतु मेरे जीवन में ऐसी घड़ी कभी नहीं आई इसलिए मैंने कभी इस ताबीज को खोलकर नहीं देखा। अब मैं जब समाधि स्वीकार कर रहा हूँ तो इस ताबीज को अपने पास रखकर क्या करूँगा, यह तो इस शरीर के साथ ही नष्ट हो जाएगा, यह मेरे गुरुदेव की दिव्यसाधना का प्रसाद है मैं इसे तुम्हें देना चाहता हूँ।

राजन्! तुम इसे ग्रहण करो और अपनी बाँह में बाँधो। जब तुम पर महान् संकट आ जाए, उसके निवारण का कोई भी उपाय न हो, अंतिम क्षण हों उस समय ताबीज को खोलकर देख लेना। जो मेरे गुरु ने कहा वही मैं तुमसे कह रहा हूँ कि तुम्हारे उस संकट का निवारण हो जाएगा। राजा ने निष्ठापूर्वक उस महात्मा के ताबीज रूप आशीर्वाद को प्राप्त किया और महलों में पहुँचकर राज्य का संचालन करने लगा।

यूँ तो राजा संतोषवृत्ति का था, किंतु किसी शत्रु राजा ने यह सोचकर कि ये राजा बहुत प्रमादी है, अकर्मण्य है, भोगी-विलासी है, राज्य का विस्तार नहीं करता, क्यों

न इस पर आक्रमण कर दिया जाए। दो-तीन राजाओं ने इस बात को सोचकर आक्रमण की योजना बनाई। पुनः उन राजाओं के मन में आया कि इस राजा के राज्य को जीतने के पश्चात् हममें से किसका अधिकार उस राज्य पर होगा। आक्रमण से पूर्व हम चारों आपस में निर्णय कर लें कि इस पर अधिकार किसका होगा? यह सोचकर चारों ने कहा पहले हम आपस में युद्ध करेंगे जो विजयी होगा वही राज्य प्राप्त करेगा। चारों में युद्ध हुआ, तीन राजा मारे गये, सहजता में उस राजा के तीन शत्रु तो अपने आप मारे गये, चौथा शत्रु बचा। उसने आक्रमण किया, अचानक आक्रमण कर चारों ओर से राज्य को घेर लिया। राजा को पूर्व सूचना नहीं थी, वह युद्ध के लिये तैयार भी नहीं था फिर भी उसने तुरंत सेनापति को आदेश दिया कि युद्ध की तैयारी की जाए। सेनापति ने कहा–राजन्! शत्रु सेना ने हमारे पूरे राज्य को घेर लिया, शस्त्रशाला पर अधिकार कर लिया है, हमारे सैनिकों को बंदी बना लिया है, अब सेना तैयार नहीं की जा सकती अब तो आत्मसमर्पण या जान बचाकर भागने का ही मार्ग बचा है।

राजा ने कहा–नहीं हम युद्ध करेंगे। सेनापति ने कहा राजन्! विवेकहीन युद्ध प्राण देने की तरह से आत्मघाती होता है। अतः मेरा आपसे निवेदन यही है कि हम युद्ध न करके अन्य युक्ति से अपने राज्य की सुरक्षा करें। मंत्रीमंडल की बैठक बुलायी गयी और यही निर्णय लिया गया कि राजा सुरंग के माध्यम से राज्य से बाहर चले जायें; तब तक

हम शत्रु राजा से संधि करते हैं या जो कुछ भी राज्यहित में उचित निर्णय होगा वह करेंगे। राजा ने पूरे मंत्रिमण्डल की बात मानी और सुरंग मार्ग से निकल गया। उधर सेनापति आदि ने शत्रु राजा के प्रति समर्पण कर दिया और शत्रु राजा ने अपना झंडा उस राज्य में फहरा दिया।

किन्तु राजा जब सुरंग से दौड़ा जा रहा था, पीछे उसी की सेना की कुछ टुकड़ी उसके पीछे-पीछे आ रही थी, पर राजा को यह ज्ञात नहीं था। राजा ने देखा सामने नदी है, मुझे तैरना भी नहीं आता, अब क्या करूँ नदी में कूदकर आत्मघात करूँ या शत्रु सैनिकों से मरकर प्राण दूँ, वह क्या करे? उसे कोई उपाय समझ नहीं आ रहा था, नदी किनारे कुछ छिपने का स्थान देखा, कुछ स्थान नहीं मिला, नदी पर पाड़ बना हुआ था वह उसके किनारे पकड़ के नदी किनारे लटक गया। उसका आधा शरीर पानी में डूबा था एवं आधा पानी के बाहर था। वह सोचने लगा मैं मर तो रहा ही हूँ क्यूँ न गुरुदेव द्वारा दिया ताबीज खोलकर देख लूँ इसमें क्या है? ताबीज खोलकर देखा तो उसमें लिखा था–''यह भी बीत जाएगा।'' यह पढ़ते ही राजा ने पुनः साहस बटोरा और ताबीज को अपने हाथ पर बाँधा। वह लौटकर आया और निकटवर्ती उन राजाओं के पुत्रों के पास जाकर मित्रता की जिन्होंने इसका राज्य तो नहीं लिया था केवल यह सिद्ध किया था कि कौन इसका राजा होगा? वे सभी इस राजा के पराक्रम को तो जानते ही थे सभी ने संधि करके पुनः एक सेना तैयार की और उन तीनों पुत्रों

को अपना सेनापति बनाया। वे तीनों पुत्र भी अपने दिवंगत पिता का बदला लेना चाहते थे। उस राजा ने अपने ही देश पर चढ़ाई कर दी और शत्रु राजा को बंदी बना लिया किन्तु सेनापतियों ने कहा–इन्होंने हमारे पिता को मारा था हम भी इन्हें जीवित नहीं छोड़ेंगे और उसे मार डाला।

राजा ने उन तीनों सेनापतियों से कहा–आप तीनों का राज्य स्वतंत्र है, जैसे मेरे राज्य पर कब्जा किया गया मैं किसी के राज्य पर कब्जा नहीं करूँगा। उस शत्रु राजा के राज्य को आप में से जो लोग चाहे वह ले लें। राजा का अपने ही राज्य में राज्याभिषेक होने लगा। सर्वत्र मंगलाचार हो रहा था, राजा का अभिषेक होने को हुआ तो राजा मुस्कुराने लगा, सभी ने कारण पूछा कि आप क्यों मुस्कुरा रहे हो। राजा ने कहा–मुझे एक बात याद आ गई कि जब मैं अपनी मृत्यु के अंतिम क्षण देख रहा था तब मैंने अपने गुरु के द्वारा प्रदत्त ताबीज को खोलकर देखा था उसमें लिखा था कि ''यह भी बीत जाएगा''। वह शब्द मुझे पुनः याद आ गये कि ये राज-वैभव भी एक दिन बीत जाएगा। संसार का सबसे बड़ा सत्य यही है इससे बड़ा सत्य कुछ भी नहीं है। बस अब मैं राज्य को स्वीकार नहीं करता। मेरी रानी गर्भवती है उसकी जो भी संतान होगी पुत्र या पुत्री वही इस राज्य का अधिकारी होगा, मैं अब संन्यास को स्वीकार करूँगा। आत्महित क्या है, कल्याण का मार्ग क्या है मुझे अपने गुरु के वाक्य स्मरण हो रहे हैं, मैने देख लिया संसार में कोई किसी को बचाने वाला नहीं

है। सर्वत्र अशरण है। अपना पुण्य ही अपनी रक्षा करता है। स्वयं अपने आत्मस्वभाव को प्राप्त करने वाला कभी नष्ट नहीं होता इसके अलावा जो कुछ भी प्राप्त करो वह शरणभूत नहीं बनता। व्यवहार में शरण तो चार हैं अरिहंत-सिद्ध-साधु और धर्म। किन्तु निश्चय से तो मेरी आत्मा ही मेरी शरण है। इस प्रकार की भावना भाता हुआ वह राजा संयम को स्वीकार करता है और अपनी आत्मा का कल्याण कर लेता है।

महानुभाव! बाहर की शरण इस जीव ने अनंत बार प्राप्त की, चाहे किसी भी बड़े व्यक्ति की शरण ली इन्द्र, चक्रवर्ती, अहमिन्द्र, सुरेंद्र आदि कोई भी हो, यहाँ तक कि तीर्थंकर प्रभु की ही शरण प्राप्त कर ली और उन्हें आपने अपना आश्रयदाता मान लिया कि मैं इनके पास रहूँगा तो मृत्यु को प्राप्त नहीं हो पाऊँगा किन्तु आयु कर्म जब पूरा होगा तब फिर कोई भी तुम्हें इस शरीर से बाहर जाने से रोक नहीं सकता, कोई बचा नहीं सकता। आयु कर्म पूरा होते ही जीव को शरीर छोड़ना पड़ता है। हो सकता है हम किसी किराये के मकान में रह रहे हों, अड़ोसी-पड़ोसी दया करके उस मकान का समय और बढ़वा दें, कोई दूसरा व्यक्ति किराया चुका दे किन्तु शरीर रूपी किराये के मकान का किराया कोई दूसरा नहीं चुका सकता। अपनी ही श्वासों के किराये से इसका भुगतान करना पड़ता है। और इसका समय भी नहीं बढ़ाया जा सकता, आयु कर्म के जितने निषेक हैं उन निषेकों को बढ़ा नहीं सकते। बध्यमान आयु में चाहे भले ही घट-बढ़ हो जाए किंतु भुज्यमान

आयु में कोई भी घट-बढ़ नहीं कर सकता इसलिए संसार में ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं है, कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है जो हमें इस शरीर के कारागार से जाने में बाधक बने, रोक सके। तब हम शरण किसकी लें? जब हमारा शरीर अत्यंत निकटवर्ती है, जो हमारा मन अत्यंत निकटवर्ती है, जो हमारी वचन शक्ति है वह अत्यंत निकटवर्ती है ये तीनों ही हमारे अत्यंत निकटवर्ती मित्र हैं। जब आत्मा कूच करती है तो तीनों वहीं के वहीं पड़े रह जाते हैं कोई भी रोक नहीं पाता।

यह धन-दौलत जिस पर व्यक्ति गुमान करता है, गुमान क्यों करता है? क्योंकि आत्मा के स्वभाव को नहीं जानता। परिजन-पुरजन को प्राप्त करके अभिमान करता है, क्यों करता है? क्योंकि आत्मा के स्वभाव को नहीं जानता। शब्दों से संबंधित जो कुछ भी चीज है, उसे पाकर के मिथ्यादृष्टि-अज्ञानी अहंकार करता है किन्तु ज्ञानी पुरुष कहता है पुद्गल तो किंचित् भी मेरा नहीं था, न मेरा है और न मेरा हो सकेगा। अनंतकाल पूर्व भी मैं पुद्गल का नहीं था और पुदगल मेरा नहीं था आज भी मैं पुद्गल का नहीं हूँ और आगे भी मैं पुद्गल का नहीं हो सकूँगा, आज भी पुद्गल मेरा नहीं है, कल भी पुद्गल मेरा नहीं होगा, बीते कल में भी पुद्गल मेरा नहीं था। न केवल पुद्गल, पुद्गल के साथ अन्य जो भी अजीव हैं धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, कालद्रव्य वह भी इस जीव के कभी नहीं थे, इस जीव का स्वचतुष्टय ही अपना है, पर चतुष्टय किंचित् भी इस आत्मा का नहीं हो सकता।

आप सभी लोग जो अपनी सुरक्षा अस्त्र-शस्त्रों से करना चाहते हैं ध्यान रखना अस्त्र-शस्त्रों से शरीर खण्डित किये जाते हैं, आत्मा की सुरक्षा नहीं होती। धन-दौलत से आप अपने अहंकार का पोषण तो कर सकते हो आत्मा की पहचान नहीं होती। चाहे किसी प्रकार से शब्दों का भण्डार करके, पुद्गल का भण्डार करके आप अपने मन/चित्त को गुमराह तो कर सकते हो किन्तु वास्तव में आत्मा की शरण को प्राप्त नहीं कर सकते। आप शाश्वत धर्म की शरण को प्राप्त हों, आप अपनी आत्मा के बारे में जानो और एक संकल्प ले लो कि संसार में जो कुछ भी मुझे अनित्य दिखायी देगा मैं उससे बचने का प्रयास करूँगा, वह मेरा नहीं है, मैं उसकी शरण में नहीं जाऊँगा। मैं अनित्य पर विश्वास नहीं करूँगा, नित्य को ही जानूँगा, नित्य पर ही विश्वास करूँगा, नित्य का ही आश्रय लूँगा और नित्य मैं स्वयं हूँ उस स्वयं को अनित्य पर्यायों से मुक्त करने की चेष्टा करूँगा। यह मेरे पुरुषार्थ पर भी संभव है और सहज भी संभव है। बिना पुरुषार्थ के वह सहजता नहीं आती जिस सहजता से कर्म का नाश होता है। इसलिए मोक्षमार्ग पहले पुरुषार्थगम्य है बाद में सहजगम्य है।

महानुभाव! आप सभी लोग इस अशरण अनुप्रेक्षा का चिंतवन करें। अपनी आत्मा को जानने का सम्यक् पुरुषार्थ करें यही आप सभी के लिये हमारा मंगल आशीर्वाद है।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

अशरण भावना संबंधित उपयोगी श्लोक व गाथाएँ

किं बान्धवैर्बन्धमयैः सशल्यैरनर्थसंसिद्धि-समर्थलिङ्गैः।
आशावपाशैः किमनर्थमूलैरर्थैर्दुरपार्थैरितानुबन्धैः॥28/50॥

—वरांग चरित्र, आ. जटासिंहनन्दि

सगे बन्धु-बान्धव भी कौन-सी रक्षा करेंगे? वे सब मनुष्य के जीवित बन्धन हैं, अनेक प्रकार की दुविधाओं को जन्म देते हैं तथा ऐसे समर्थ साधन हैं जो सरलता से अनेक अनर्थों को उत्पन्न कर देते हैं।

व्यादारितास्ये सति यत्कृनिङ्के न प्राणिनां प्राणमिहास्ति किंचित्।
मृगस्य सिंहोग्रनिशातदंष्ट्रा यत्र प्रविष्टात्मतनोरिवात्र॥31/87॥

—वरांग च., आ. जटासिंहनन्दि

आयु कर्म का अन्त अथवा यम जब अपने विकराल मुख को फैला देता है तब निश्चित है कि इस संसार में प्राणियों के प्राणों का बचना असम्भव है। सिंह के घातक तथा तीक्ष्ण दाँत जब मृग के शरीर में फँस ही गये तो वह कैसे बच सकता है? यही अवस्था शरीर में प्रविष्ट आत्मा की भी है।

विक्रमैकरसस्तावज्जनः सर्वोऽपि वल्गति
न शृणोत्यदयं यावत् कृतान्तहरिगर्जितम्॥60॥

—ज्ञाना., आ. शुभचंद्रस्वामी

जब तक यम रूप सिंह की निर्दय (भयानक) गर्जना नहीं सुनी जाती तब तक सब ही प्राणी अपने पराक्रम में चूर होते हुए प्रवर्तमान देखे जाते हैं–मृत्यु का आक्रमण होते ही सबका पराक्रम नष्ट हो जाता है।

जाइ-जरा-मरणरुजा, भयदोरक्खेदि अप्पणो-अप्पा।
तम्हा आदा सरणं, बंधोदयसत्त कम्मवदिरित्तो॥11॥बा.अ.

जिस कारण आत्मा ही जन्म, जरा, मरण, रोग और भय से आत्मा की रक्षा करता है उस कारण बंध, उदय और सत्व रूप अवस्था को प्राप्त कर्मों से अलग आत्मा ही शरण है।

अक्षापुगृहराज्यभोगपरिवारश्र्यादयश्चंचलाः।
शंपाभाश्च न विद्यतेऽत्र शरणं मृत्योः सुधर्मं विना॥ 5 परि/105

–श्री मल्लिनाथ पुराण, आ. सकलकीर्तिस्वामी

संसार के अन्दर इन्द्रियाँ, आयु, घर, राज्य, भोगोपभोग परिवार और लक्ष्मी आदि जितने भी पदार्थ हैं वे सब जिस प्रकार बिजली चमककर शीघ्र नष्ट हो जाने वाली है उसी प्रकार ये नष्ट हो जाने वाले हैं। यदि संसार में शरण है तो एक समीचीन धर्म है, धर्म के सिवाय मृत्यु के मुख से बचाने वाला कोई भी शरण नहीं है।

मृगशावस्यैकान्ते बलवता क्षुधितेनामिषैषिणा व्याघ्रेणाभिभूतस्य न किंचिच्छरणमस्ति, तथा जन्मजरामृत्युव्याधिप्रभृतिव्यसनमध्ये परिभ्रमतो जन्तोः शरणं न विद्यते।

भवत्यसनसंकटे धर्म एव शरणं। सुहृदर्थोऽप्यनपायी, नान्यकिंचिच्छरणमिति भावना अशरणानुप्रेक्षा।

–स.सि. (आ. पूज्यपाद स्वामी)

जिस प्रकार एकान्त में क्षुधित और माँस के लोभी बलवान् व्याघ्र के द्वारा दबोचे गये मृगशावक के लिए कुछ भी शरण नहीं होता उसी प्रकार जन्म, जरा, मृत्यु और व्याधि आदि दु:खों के मध्य में परिभ्रमण करने वाले जीव का कुछ भी शरण नहीं है।

संसार विपत्तिरूप स्थान में धर्म ही शरण है। वही मित्र है और वही कभी भी न छूटने वाला अर्थ है, अन्य कुछ शरण नहीं है, इस प्रकार की भावना करना अशरणानुप्रेक्षा है।

उपघ्रातस्य घोरेण मृत्यु-व्याघ्रेण देहिनः।
देवा अपि न जायन्ते शरणं किमु मानवाः।। 6 अधि./32

–तत्त्वार्थसार, (आ. अमृतचन्द्रसूरि)

भयंकर मृत्यु रूपी व्याघ्र जब जीव को आ घेरता है तब देव भी बचाने में समर्थ नहीं होते, मनुष्यों की तो बात ही क्या है। ऐसे शरणरहित इस जीवन को धिक्कार हो।

व्याघेणाघ्रातकायस्य मृगशावस्य निर्जने।
यथा न शरणं जन्तोः संसारे न तथापदि।।6/46

–पं. पंच. (आ. पद्मनन्दि जी)

जिस प्रकार निर्जन वन मे सिंह द्वारा पकड़े गये मृग के बच्चे की रक्षा करने वाला कोई नहीं है उसी प्रकार आपत्ति

(मरण समय) के प्राप्त होने पर उससे जीव की रक्षा करने वाला भी संसार में कोई नहीं है, इस प्रकार का विचार करना अशरण भावना है।

विज्जोसहमंतबलं बलवीरिय अस्सहत्थिरहजोहा।
सामादिउवाया वा ण होंति कम्मोदए सरणं।।1734।।

–भ.आ. (आ. शिवकोटि)

कर्म का उदय होने पर विद्या, मंत्र, औषध, बल, वीर्य, घोड़े, हाथी, रथ, योद्धा, साम, दाम, दण्ड व भेद आदि उपाय शरण नहीं हैं, सभी अशरण हैं।

आयुक्खयेण मरणं, आउं दाऊ ण सक्कदे को वि।
तम्हा देविंदो वि य, मरणाउ ण रक्खदे को वि।।28।।

–कार्तिकेयानुप्रेक्षा (आ. कार्तिकेय स्वामी)

आयु कर्म के क्षय से मरण होता है और आयुकर्म किसी को कोई देने में समर्थ नहीं है तब रक्षा करने वाला कौन है? इसलिए देवों का इन्द्र भी मरने से किसी की रक्षा नहीं कर सकता है।

कर्मनाशनसहानि जनानां ज्ञानदर्शन चरित्र तपांसि।
नापहायसतिकर्मणिपक्वेरक्षकानिखलुसंतिपराणि।।1831।।

–मरण कंडिका (आ. अमितगतिजी)

भव्य जीवों के लिए यदि कोई शरणभूत है तो वह अपने-अपने ज्ञान, दर्शन, चारित्र व तप ही हैं। ये ही ज्ञानादिक उन दुःखदायी कर्मों का नाश करने में समर्थ हैं इनके अतिरिक्त अन्य कोई पदार्थ कर्म के उदय में रक्षक, सहायक, शरणभूत नहीं होते हैं।

जह सीहो गहदि मिगा, तह मिच्चुणा खलु गहिज्जदि पाणी।
तम्हा मिच्चुयाले ण, को वि सक्को आउं देदुं।।43।।

–अनुप्रेक्षा सार (आ. वसुनंदी मुनि)

जिस प्रकार सिंह मृगों को पकड़ लेता है उसी प्रकार प्राणी मृत्यु के द्वारा पकड़ लिया जाता है इसलिए मृत्यु काल में निश्चय से कोई भी इस प्राणी को आयु देने में समर्थ नहीं है।

अर्हन्तोत्राशरीराश्च त्रिविधासाधवोखिलाः।
इहामुत्र शरण्याः स्यु सर्वत्रापदिधीमताम्।।14।।

तथा तैश्च प्रणीतो यो धर्मोरत्नत्रयात्मकः।
सहगामी शरण्यः स सतां यमान्तकोमहान्।।15।।

–मूलाचार प्रदीप (आ. सकलकीर्ति जी)

बुद्धिमानों को इस लोक और परलोक दोनों लोकों में सर्वत्र समस्त आपत्तियों में अर्हंत-सिद्ध आचार्य-उपाध्याय और साधु ही शरण हैं और उन्हीं पंचपरमेष्ठी द्वारा कथित परलोक में भी साथ जाने वाला सर्वोत्कृष्ट व यमराज को नाश करने वाला ऐसा रत्नत्रय धर्म ही सज्जनों को शरण होता है।

नेन्द्रा नैव खगा न व्यन्तरगणा नैवात्र चक्राधिपा, मन्त्रश्चौषधराशयश्च सकला धर्मं विना देहिनः। पूर्वोपार्जित कर्मदुःखमरणात्रातुं क्षमा न क्षणं, विज्ञायेति बुधाः कुरुध्वमनिशं धर्मं शरण्यं विधेः।। 15 सर्ग/24

–श्री पार्श्वनाथ चरितम् (आ. सकलकीर्ति जी)

पूर्वोपार्जित कर्मोदय से होने वाले दु:खरूप मरण से प्राणियों को क्षण भर बचाने के लिए धर्म को छोड़कर न इन्द्र समर्थ हैं न विद्याधर, न व्यन्तरगण, न चक्रवर्ती, न मंत्र, न औषधराशि–सभी असमर्थ हैं, ऐसा जानकर हे विद्वज्जन हो! कर्म से सुरक्षित रखने वाले धर्म को निरन्तर रक्षक बनाओ।

''मृत्युना नीयमानस्य सहस्रनयनादयोऽपि न शरणं तस्माद्-भवत्यसनसंकटे धर्म एव शरणं सुहृदर्थोऽप्यननुयायी नान्यत्किंचिच्छरणमिति भावनमशरणानुप्रेक्षा।

–चारित्रसार (चामुंडराय कृत)

जिस समय मृत्यु इस जीव को ले जाने लगती है उस समय इंद्र भी इसकी रक्षा नहीं कर सकता, इसीलिये संसार की समस्त आपत्तियों के समय एक धर्म ही शरण है, मित्र और धन भी इस जीव के साथी नहीं है। अतएव इस संसार में कोई भी शरण नहीं है, इस प्रकार चिंतवन करना अशरणानुप्रेक्षा है।

सिंहस्याग्रे मृगस्येव पति तस्यापि कानने।
संसृतौ शरणं नास्ति जीवानां सरतां परम्।।10/47

दर्शनं ज्ञानचारित्रं पवित्रं भुवनत्रये।
केवल शरणं जन्तोर्नान्यं मान्यं बुधोत्तमै:।।10/48

–श्रीपाल च. (आ. सकलकीर्तिजी)

जिस प्रकार निर्जन वन में सिंह के सामने पड़े हरिण को बचाने में कोई समर्थ नहीं होता उसी प्रकार प्राणियों को इस

संसार में बचाने वाली कोई शरण नहीं है। तीनों लोकों में यदि कोई शरण है तो वह है रत्नत्रय–अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र, अन्य कोई नहीं है ऐसा विद्वानों के द्वारा माना गया है।

तत्थ भवे किं शरणं, जत्थ सुरिंदाण दीसये विलओ।
हरिहर वंभादीया, कालेण कबलिया जत्थ॥

–श्री यशोधर चरित्र (महाकवि पुष्पदंत जी)

जिस संसार में देवों के इन्द्रों का विनाश देखा जाता है। जहाँ ब्रह्मा, विष्णु, महेश तथा आदि शब्द से तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि पदवीधारक काल के ग्रास बन गए, उस संसार में क्या कहीं भी शरण है, अर्थात् नहीं है।

मृत्युदुःखपरिपीडितस्यमेव्याघ्रवक्त्रमृगशावकस्यवा।
बान्धवानशरणंधनादिवाधर्मतोऽन्यदितिचिन्तनामितः॥63/80

–हरिवंश पु. (आ. जिनसेन स्वामी)

जिस प्रकार व्याघ्र के मुख में पड़े मृग के बच्चे को कोई शरण नहीं है, उसी प्रकार मृत्यु के दुःख से पीड़ित मेरे लिए धर्म के सिवाय न भाई-बंधु शरण हैं और न धन ही शरण है, इस प्रकार का चिन्तवन करना अशरण भावना है।

3.

संसार अनुप्रेक्षा

स्वामी इस संसार में, जीव नित्य दुःख पाय।
पंच परावर्तन करे, चहुँगति में भरमाय॥
चहुँगति में भरमाय, लाख चौरासी घूमे।
राग-द्वेष-मोहनि के वश, विषयन में झूमे॥
कहे सूरि वसुनंदि, धर्म बिन तिरे न कामी।
रत्नत्रय को धारि भव्य, बन जाओ स्वामी॥

दाम बिना निर्धन दुःखी, तृष्णा वश धनवान
कहुँ न सुख संसार में, सब जग देख्यो छान

संसार अनुप्रेक्षा

महानुभाव!

कल देख रहे थे अशरण अनुप्रेक्षा के संबध में। यह चिंतवन करना कि संसार में कोई भी शरण नहीं है क्योंकि जितनी भी पर्याय हैं वे सभी अशाश्वत हैं। वैभाविक पर्यायों में शरण खोजना मोही जीव का कार्य है। निर्मोही जीव आत्मा की शुद्ध पर्याय का आश्रय लेता है अथवा शुद्ध द्रव्य का ही आश्रय लेता है। इसलिए उसे बाहर से किसी का आश्रय लेने की आवश्यकता नहीं। व्यवहार धर्म भी शाश्वत है, निश्चय धर्म भी शाश्वत है इसलिए कदाचित् व्यवहार में व्यवहार की ही शरण ली जाती है। संसार में जिन-जिन ने आश्रय लिया है वे व्यक्ति संसार से बचना चाहते हैं। इससे सिद्ध होता है कि संसार सुखकर नहीं है।

संसार शब्द का अर्थ प्रायःकर के कुछ लोग ऐसा करते हैं **'संसरणं इति संसारः'** जिसमें संसरण/संचरण किया जाए वह संसार है। संसरण/संचरण करने पर दो वस्तु प्राप्त होती हैं, एक अच्छी, दूसरी बुरी। अच्छी वस्तु को लोग सुख कहते हैं, पुण्य का फल कहते हैं। बुरी वस्तु को लोग दुःख कहते हैं, पाप का फल कहते हैं। किन्तु मैं संसार की तीसरी परिभाषा सोचता हूँ तो लगता है यह परिभाषा ठीक है वह है–

''यस्मिन् विद्यते सम्यक् सारः स संसारः'' जिसमें सम्यक् सार दिखाई दे रहा है वह संसार है। क्योंकि आत्मा को इस संसार में रहते-रहते भी सम्यक्सार अनुभवगोचर

होता है, वह उस सार का अनुभव करता है। कोई भी अरिहंत परमेष्ठी आत्मा की अनुभूति करने के लिए तीन लोक (संसार) को छोड़कर बाहर नहीं जाते। कोई भी सिद्ध परमात्मा अपनी शुद्ध आत्मा की अनुभूति करते हुए लोक को छोड़कर के बाहर नहीं जाते, उनके लिये संसार में सार दिखाई दे रहा है। उनकी अपेक्षा से कहें तो संसार सारभूत है क्योंकि उन्होंने वह सार अपनी आत्मा में खोज लिया है। संसार में होते हुए भी वे संसारी नहीं हैं। क्यों नहीं हैं? क्योंकि उनके अंदर संसार नहीं है। जिनके अंदर संसार होता है वे संसारी होते हैं और जिनके अंदर संसार नहीं होता वे इस संसार में रहते हुए भी संसारी नहीं होते।

महानुभाव! संसार का स्वरूप कैसा है? कोई कहता है संसार सुखमय है, कोई कहता है दुःखमय है, कोई कहता है संसार स्वार्थी है, कोई कहता है संसार में क्रोधी भरे पड़े हैं तो कोई कहता है क्षमाशील भी हैं, कोई कहता है अहंकारी भी हैं तो कोई कहता है विनम्र भी हैं। संसार में मायाचारी करने वाले भी हैं तो कोई कहता है सरल-सहज व्यक्तित्व वाले भी हैं। कोई कहता है संसार तो लोभी व्यक्तियों से भरा पड़ा है तो कोई कहता है संतोष वृत्तिधारक लोगों की भी कोई कमी नहीं है। कोई कहता है संसार में सब विधर्मी हैं तो कोई कहता है कि साधर्मी भी हैं, कोई कहता है कि संसार में असंयमी हैं तो कोई कहता है मुझे तो संयमी ही दिखाई देते हैं। कोई कहता है संसार में सब अच्छा ही अच्छा है तो कोई कहता है कि संसार में कुछ अच्छा है

ही नहीं। तो इस प्रकार की मान्यताओं वाले जीव गमनागमन कर रहे हैं।

अपनी-अपनी धारणा के अनुसार जीवन जीने वाले प्राणी यद्यपि सुख की कल्पना व कामना करते हैं और अपनी ही धारणा के अनुसार वे सुख को प्राप्त करने का पुरुषार्थ भी करते हैं किन्तु जब सम्यक् धारणा, सम्यक् कल्पना, सम्यक् भावना नहीं होती है तब उनके हाथ में दु:ख ही आता है। जैसे एक व्यक्ति ने कहा मैं देवदूत हूँ आपकी सब इच्छाओं को पूर्ण कर दूँगा, आपको क्या-क्या चाहिए एक कागज पर लिखकर दे दीजिए। सभी ने कागज पर अपनी इच्छित वस्तुएँ लिख दीं। किंतु विशेष बात ये थी कि सभी ने वस्तुएँ ही लिखी; पर किसी ने ये नहीं लिखा कि मुझे सुख चाहिए। उस देवदूत ने कहा कि ये वस्तुएँ हीं दु:ख का कारण हैं सुख इनमें नहीं है। सुख तो वस्तुओं के त्याग में है। जब तक आप बाहर से माँगोगे तब तक बाहर से दु:ख ही माँगा जा सकता है, सुख को बाहर से नहीं माँगा जा सकता। उस समय देवदूत की बात किसी को समझ नहीं आई। देवदूत ने तथास्तु कहकर उनकी वे इच्छित वस्तुएँ दे दीं। कुछ दिनों पश्चात् देवदूत पुन: आया तो वे लोग फिर दु:खी दिखाई दिए, वह बोला मैंने आपको पहले भी समझाया था कि वस्तु सुख का कारण नहीं है, साधन सामग्री सुख का कारण नहीं है, सुख का साधन है 'त्याग'। संसार में जो भी वस्तु प्राप्त की जा रही है वह

वस्तु आज आपको सुखद लग रही है किन्तु वह वास्तव में सुखद नहीं है।

एक व्यक्ति जंगल में अकेला फँस गया, वह न तो अपने उदरपूर्ति के लिये कुछ कर पा रहा था, न उस जंगल से निकल पा रहा था। एक विद्याधर वहाँ से जा रहा था उसने उस व्यक्ति को देखा, और उससे कहा–भाई आप क्या चाहते हो? उसने कहा मैं अपने स्थान से भटक गया हूँ आप मुझे मेरे स्थान पर पहुँचा दीजिए। विद्याधर ने कहा–अभी तो मैं अकृत्रिम जिनालयों की वंदना करने जा रहा हूँ लौटते समय आपको आपके नगर में छोड़ दूँगा। वह विद्याधर तो चला गया, तभी उस व्यक्ति ने उस जंगल में देखा कि यहाँ तो अच्छे-अच्छे उद्यान हैं, फल हैं, उसने वे फल भक्षण कर लिए। फलों को खाकर उसके पेट में बहुत पीड़ा होने लगी, वह उस पीड़ा से व्याकुल होकर रोने लगा। उसकी आवाज सुनकर उस वन का देवदूत वहाँ आया और उसके रोने का कारण पूछा–उसने कहा मैंने यह फल खाया तब से मेरे पेट में दर्द हो रहा है। देवदूत ने कहा ये फल आपके खाने योग्य नहीं हैं इन्हें तो विद्याधर या ऋद्धिधारी ही ग्रहण कर सकते हैं। फिर मेरी उदर पीड़ा कैसे शमन हो? देवदूत उसे एक फल देते हुए बोला आप ये फल खा लीजिए आपका दर्द ठीक हो जाएगा। उसने वह फल खाया और उसकी पीड़ा दूर हो गई। देवदूत वहाँ से चला गया।

कुछ समय पश्चात् उस व्यक्ति को फिर भूख लगी और उसने वही फल पुनः खा लिए जिससे पुनः उसके उदर में

पीड़ा हो गई। देवदूत पुनः आया और उपाय बताया। इस प्रकार उसका यही क्रम बार-बार चलता रहा। महानुभाव! यह कहानी उस व्यक्ति की नहीं वरन् उन सभी संसारी प्राणियों की है जो जब दुःख से दुःखी होता है तब भगवान् को पुकारता है, उस समय पुण्य करता है, पुण्य का फल खाता है। पुनः पीड़ा होती है, दुःख होता है पुनः रोता है, फिर भगवान् को पुकारता है पुण्य इकट्ठा करता है, पुण्य इकट्ठा करके फिर इतराता है, फिर पाप कमाता है, फिर दुःख पाता है, यही-यही क्रम चलता रहता है यही संसार की दशा है। व्यक्ति संसार की इसी दशा को करता रहता है। जब तक व्यक्ति यथार्थ संसार की दशा को नहीं समझेगा तब तक वह संसार से मुक्त होने का उपाय नहीं सोच सकता। इसीलिए हमें संसार में सिर्फ पुण्य-पाप के झूले में झूलना नहीं है।

महानुभाव! संसार है क्या? व्यवहार में देखो तो संसार कुछ नहीं, दो छोर पर घूमना है। यह संसारी आत्मा दो तटों पर घूमता है, एक तट है 'जन्म' दूसरा तट है 'मृत्यु'। जन्म से मृत्यु, मृत्यु से जन्म। यह आत्मा यहाँ से वहाँ घूमता रहता है। इसे घूमने में मिलता क्या है? जब जीवन रूपी पथ पर घूमता हुआ ये आत्मा जन्म से मृत्यु तक जाता है, मृत्यु से जन्म तक आता है तो इस पथ के दोनों ओर वृक्ष लगे हुए हैं—वे वृक्ष कहलाते हैं कर्म वृक्ष। जब ये पथिक इस राजपथ (संसारपथ) पर चलता है तब इसे कर्मरूपी वृक्ष के फल भी मिलते हैं। वह उन्हें उठाकर के खाता है। मूल में

तो आठ वृक्ष हैं इसके यदि उत्तर भेद कर दें तो 148 वृक्ष दिखाई देते हैं और पुनः उनके भी लघुकाय वृक्ष जो उसका आश्रय लेकर फल-फूल रहे हैं, उन पर पुष्प भी लग रहे हैं, फल भी लग रहे हैं उसकी शीतल व रुक्ष हवा भी आ रही है, वे वृक्ष अपना फल देते अवश्य हैं। कोई व्यक्ति उन फलों को लेना चाहे तो ले, न लेना चाहे तो न ले। पुष्पों को सूंघना चाहे तो सूंघे, न चाहे तो न सूंघे। किन्तु वे फल तो देंगे। क्यों? क्योंकि उस पथ के दोनों ओर जो वृक्ष लगाये हैं वह इस पथिक ने ही लगाए हैं। इस पथिक के द्वारा लगाए वृक्षों के फलों को कोई और नहीं खा सकता और दूसरे के फल इसे मिल नहीं सकते। अब ये पथिक भ्रमित हो जाता है कि अपने द्वारा बनाए हुए वृक्षों को मैं कैसे काटूँ। अपने द्वारा लगाए वृक्षों को क्यों न भोगूँ? अपने लगाए वृक्षों की गंध क्यों न सूँघू चाहे भले ही गंध दुर्गन्ध हो। अपने लगाए वृक्षों की छाया में क्यों न बैठूँ चाहे वे वृक्ष के पत्ते असि के समान प्रहार करने वाले हों, किन्तु उन वृक्षों के पत्तों का भी सुख-दुःख भोगना पड़ता है, पुष्पों का भी सुख दुःख भोगना पड़ता है, फलों का भी खट्टा-मीठा-चरपरा स्वाद भोगना पड़ता है। कभी पुण्य का उदय आया तो कहता है मधुरता आ रही है और कभी पाप का उदय आ गया तो कहता है अरे! यह तो जहर जैसा कटुक फल है; किन्तु भोगता अवश्य है।

जब तक हम कर्म रूपी वृक्षों के फल भोगते रहते हैं तब तक साथ में लेकर चल रहे उस कलेवा को हम देख

भी नहीं पाते। वृक्ष का फल मीठा खा रहे हों या खट्टा किन्तु जब तक फल खा रहे हैं तब तक कलेवा को तो देखा ही नहीं। जिन्हें अपनी आत्मा के कलेवा की सुध आ जाती है वे कर्म रूपी वृक्षों के फलों को नहीं चखते, उन्हें नहीं भखते। आत्मा के पास जो कलेवा है वह है शुद्ध आत्मोद्भूत आनंद, स्वभाविक आनंद, सहजदशा का आनंद, शुद्ध स्वात्मोपलब्धि की अनुभूति। वह तब तक नहीं होती जब तक-कर्मरूपी वृक्षों के फलों का स्वाद ले रहे हैं। एक साथ दो स्वाद नहीं आ सकते कि अपने कलेवा का भी स्वाद ले लो और अपने वृक्ष के फलों का भी स्वाद ले लो।

महानुभाव! यही तो है संसार। बाहर की जो दुनिया दिखाई दे रही है, मात्र यह लोकाकाश ही संसार नहीं है जिसमें धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य आदि हैं, यह संसार नहीं है, ये पुद्गल भी संसार नहीं है, संसार तो वह है जो हमारी आत्मा में बसा हुआ है।

एक धीवर का बेटा था जो अपने पिता के साथ नाव भी चलाता था और नदी में से मछली भी पकड़ता था। एक बार उसका स्वास्थ्य अचानक प्रतिकूल हो गया। वह बालक मौसम की प्रतिकूलता को सहन करने में असमर्थ हो गया। वह नदी किनारे बैठा धूप सेक रहा था, धूप से उसका शरीर तपने लगा, अब उसे लगा मुझे शीतलता चाहिए इसलिए वह नदी में कूद गया, तैरना जानता नहीं था नदी का पानी ठंडा लगा तो शरीर में कपकपी आ गई, कुछ ही क्षण में नदी के बाहर निकलकर आया पुनः किनारे आकर शरीर पोंछा

और धूप लेने लगा, पुनः शरीर का ताप बढ़ा और शीतलता पाने नदी में कूद गया। इस तरह से वह बार-बार नदी में कूदता है और बाहर निकलकर आता है। बाहर ताप है अंदर शीतलता है किन्तु अधिक शीतलता भी उसकी सहन सामर्थ्य से बाहर है और अधिक ताप भी उसकी सामर्थ्य से बाहर है। वह बालक अपनी सामर्थ्य को बढ़ाये बिना न सूर्य के ताप को सहन कर पा रहा है न जल की शीतलता को।

महानुभाव! जल भी अभिशाप नहीं है और ताप भी अभिशाप नहीं है। कभी जल तो कभी धूप अच्छी लगती है किन्तु जब सामर्थ्य बढ़ जाती है तो न दुःख नदी के जल में है और न दुःख सूर्य के ताप में। ऐसे ही जिस व्यक्ति के पास पुण्य होता है वह व्यक्ति चाहे संसार में कहीं भी रहे, वह सम्यग्दृष्टि नारकी भी इतने दुःख का अनुभव नहीं करता जितने दुःख का अनुभव मिथ्यादृष्टि देव करता है। मिथ्यादृष्टि चक्रवर्ती जिस दुःख का अनुभव करता है उस दुःख का अनुभव एक सम्यग्दृष्टि, व्रती, संयमी, देशव्रती अकिंचन भी जिसके पास तत्त्व का बोध है उतने दुःख का अनुभव नहीं करता। संसार का सही चित्रण जिसके चित्त में विद्यमान है वह व्यक्ति संसार में कभी फँसता नहीं। जिसका चित्त संसार को अच्छा मान रहा है वह संसारी है।

''चित्तमेव हि संसारः रागद्वेषादिवासितं॥

राग वा द्वेष से दूषित चित्त ही संसार है, जिसके चित्त में राग-द्वेष नहीं है तो समझो वहाँ संसार ही नहीं है। जब

तक चित्त में राग- द्वेष विकारी भाव है, मोह है तब तक संसार है, जिस क्षण राग-द्वेष विकारी भाव नष्ट हो जाते हैं उस समय ही संसार नष्ट हो जाता है।

महानुभाव! आप भी उस तपन को सहन करने की सामर्थ्य पैदा करो। तपन से बचने के लिए कितनी बार डुबकी लगाओगे, और सर्दी से बचने के लिए कितनी बार ताप में, अग्नि के समीप में जाओगे। इस प्रकार हम अनादिकाल से यही करते चले जा रहे हैं, यही तो संसार का कार्य है; हम एक इच्छा पूरी करते हैं, अर्हट की तरह से एक बाल्टी पानी भरकर आता है दूसरी खाली बाल्टी होती है, एक इच्छा पूरी होती है दूसरी इच्छा पैदा हो जाती है। हम पुनः-पुनः माँगते चले जाते हैं पर हमारी माँग पूरी नहीं होती। संसार में यह चलता ही रहेगा जब तक हमें संसार का यथार्थ बोध नहीं होगा तब तक हम संसार से उपरित नहीं हो सकते। संसार की कोई भी वस्तु हमें तब तक सुखी नहीं बना सकती जब तक हमें संसार की वस्तुओं का सही बोध न हो जाए। यही चिन्तन करना संसार भावना कहलाती है।

महानुभाव! कर्म रूपी वृक्षों के कटने से ही पथिक आनंद का अनुभव करता है। किसी व्यक्ति ने जिंद सिद्ध कर लिया। वह जिंद आकर के बोला मेरे आका बताओ क्या काम है। मैं क्या करूँ? यदि तुम मुझे काम नहीं बताओगे तो मैं तुम्हें खा जाऊँगा। ऐसे ही संसारी जीव है, यह निरंतर काम करता रहता है, जैसे उसके आका ने उस जिंद को काम बताया क्योंकि उसे डर है कि वो उसे खा

जाएगा। ऐसे ही ये आत्मा मानती नहीं है, कभी मन से, कभी वचन से, कभी काय से काम करती रहती है और कर्मों का उत्पादन होता रहता है। ये फैक्ट्री कभी बंद नहीं होती। निरंतर कर्मों का आस्रव हो रहा है। इस वृक्ष पर फल हमेशा लगते ही रहते हैं, ये वृक्ष सूखते भी नहीं हैं, जलते भी नहीं, नष्ट भी नहीं होते।

जब तक पथिक स्वयं अपने हाथों से नहीं काटे तो कोई इन वृक्षों को काट भी नहीं सकता, और जब तक वृक्ष कटेंगे नहीं, मूल, उखाड़कर जलाया नहीं जाएगा तब तक पुनः-पुनः पथिक को इसी रास्ते पर दौड़ना पड़ेगा। मृत्यु का किनारा तो कभी जन्म का किनारा सदैव बना ही रहेगा।

महानुभाव! संसार क्या है–

चित्त में संसार होता है, चित्त क्या संसार क्या है,
बीज में विस्तार होता, बीज क्या विस्तार क्या है।
मृत सलिल का योग पाकर, बीज ही विस्तार होता,
वासना का भोग पाकर, चित्त ही संसार होता॥

संसार और कुछ नहीं है। बीज और वृक्ष दोनों अलग-अलग नहीं हैं बीज का विस्तार ही वृक्ष है, किन्तु बीज का विस्तार बिना मिट्टी-जलवायु के नही हो सकता। बीज को मृतिका (मिट्टी) भी चाहिए, जल भी चाहिए, वायु भी चाहिए, सूर्य का प्रकाश भी चाहिए ये सब चाहिए अतः बीज ही वृक्ष है कारण रूप से। वृक्ष कार्य रूप से है। ऐसे ही चित्त ही संसार है। चित्त और संसार अलग-अलग नहीं हैं। कारण है चित्त और कार्य है संसार।

महानुभाव! इस संसार में जो जीव अटके हुए हैं, भटके हुए हैं, उन्होंने अभी समीचीन रूप से अपने स्वभाव को नहीं जाना। हम संसार को छोड़कर कहाँ जाएं? कोई व्यक्ति अपने घर को छोड़कर के यहाँ गया, यहाँ से छोड़कर जंगल में चला जाए और गहन जंगल में चला जाए किन्तु जब तक चित्त में से संसार को नहीं निकाला जाएगा, तब तक संसार से मुक्ति न पाएँगे। संसार में रहना खतरनाक नहीं है जितना कि तुम्हारे चित्त में संसार का रहना खतरनाक है।

परम पूज्य चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज एक बार दक्षिण भारत में विहार कर रहे थे, उनकी बहुत कीर्ति व ख्याति फैली हुई थी, वे बहुत बड़े तपस्वी, सहज साधक, निर्भीक योगी, आत्मवेत्ता, अंतःकरण से जागरूक महापुरुष थे। उनकी बाह्य ख्याति जैसे ही फैली तो लोग उनके चरणों में आने लगे, सैंकड़ों-हजारों लोग उनके चरणों की रज अपने माथे से लगाने लगे। एक कोई संत-महात्मा भी उनके पास आये और आकर के निवेदन किया—प्रभो! कैसे भी हो मेरे आश्रम (कुटिया) में आपके चरण पड़ जाएँ। महाराज ने कुछ नहीं कहा, उसने बहुत निवेदन किया कि महाराज आपको अलग से चलकर कहीं नहीं जाना पड़ेगा, जो आपका रास्ता जाने का है जिस मार्ग से आप जाएँगे वहीं ज्यों की त्यों लगा हुआ रोड के सहारे से मेरा आश्रम है। आप दो कदम मेरे आश्रम पर रख देना, मैं धन्य-धन्य, कृत-कृत्य हो जाऊँगा। महाराज ने फिर भी कुछ नहीं कहा।

प्रात:काल उसी मार्ग से महाराज का विहार होना था, वह संत बाबा महाराज जी का पादप्रक्षालन करने के लिए जल, फूल-पत्ती, दीप, धूप, अगरबत्ती आदि लिये तैयार खड़ा था। जैसे ही आचार्य श्री आये उसने आरती उतारी सम्मान किया और बहुत प्रसन्न हुआ। आचार्यश्री ने कुछ नहीं कहा वे मुस्कुराते हुए आगे बढ़े। उस संत ने आचार्यश्री को अपना पूरा आश्रम दिखाया, यहाँ मैं पूजन करता हूँ, यहाँ भोजन, यहाँ भजन इत्यादि स्थानों को देखकर आचार्यश्री चलते गये और कुछ नहीं बोले। आचार्य श्री वहाँ से निकलकर रोड पर आ गये, चलने लगे। वह कहता है–महाराज मेरा आश्रम बहुत अच्छा है न? किन्तु महाराज कुछ नहीं बोले। वह चाह रहा था कि महाराज मेरे आश्रम की थोड़ी तारीफ करें किंतु महाराज मौन से चले जा रहे थे। बार-बार जब उसने महाराज के मुख से प्रशंसा सुननी चाही तो महाराज ने कहा–भैया! एक बात पूछें–हम आपसे पूछना चाहते हैं कि आप कौन हैं? वह बोला–मैं तो साधु-संन्यासी हूँ। पुनः पूछा–ये साधु-संन्यासी कौन होता है? वह बोला–जो घर-गृहस्थी से दूर हो जाए। अच्छा, तो ये बताओ तुम साधु-संन्यासी हो तो घर में ही बने रहते। बोला–नहीं महाराज जी! घर में साधुपना नहीं रहता। अरे! जब घर में साधुपना नहीं रहता तो तुमने यह घर क्यों बना लिया। तुमने उस कुटिया को छोड़ा तो यहाँ कुटिया बना ली। बात तो एक ही हुई। तुम्हारे मन में कुटिया बनाने की भावना थी सो तुमने यहाँ कुटिया बना ली। भैया! जब तक तुम्हें कुटिया से मोह रहेगा तब तक साधुपना कैसा? पहले

तुम्हें उस कुटिया से मोह था, अब इस कुटिया से मोह है अंतर कहाँ रहा? तुम स्वयं सोचो इस तरह क्या तुम्हारा कल्याण हो पाएगा।

उस महात्मा को लगा महाराज जी बात तो ठीक कह रहे हैं, अच्छी बात कह रहे हैं। उसने कहा–महाराज श्री आपने मुझे सही दिशा बोध दिया, आज मेरे अंतरंग के चक्षु उन्मीलित हो गये, मुझे वास्तव में बोध हो गया कि आपने ठीक कहा कि मैंने एक घर छोड़कर दूसरा घर बसा लिया तो मेरा कल्याण कैसे हो पाएगा, मेरा मोह तो इसके प्रति है ही। वह तुरंत जाता है और अपनी कुटिया को अग्नि के लिये स्वाहा कर देता है, आश्रम जलकर राख हो गया। वह पुनः महाराज के पास पहुँचा, बोला–महाराज! अब तो मैं निर्द्वन्द हो गया, मुक्त हो गया, अब तो आनंद आ गया। महाराज ने पूछा क्या हुआ? बोला–महाराज! मैंने आज अपनी कुटिया को जला दिया। महाराज जी कुछ नहीं बोले, शांति से बैठे रहे, मात्र इतना कहा–भाई कुछ और भी कहना है क्या? वह बोला महाराज जी एक बात और कहनी है कि चाहे कुछ भी हो सत्यता तो ये है कि कुटिया थी तो बहुत अच्छी, मैंने जला भले ही दी पर कुटिया बहुत अच्छी थी। महाराज जी ने कहा–भैया! बाहर की कुटिया जलाने से मोह नहीं टूटता है, राग कम नहीं होता, अंतरंग की कुटिया तो तेरी अभी भी बनी है।

संसार के अधिकांश प्राणी बाहर के घर छोड़ते हैं, बाहर की कुटिया जलाते हैं, बाहर के व्यक्तियों से संबंध तोड़ते

हैं किन्तु अकेले में बैठकर उनके संबंध चलते रहते हैं, राग चलता है, द्वेष भी रहता है, मोह भी उन्हें छलता रहता है किन्तु वे इस भ्रम में जीते रहते हैं कि बाहर के व्यक्तियों को छोड़ दिया तो हमारा कल्याण हो गया। इसीलिए कवियों ने कहा–

यह संसार असार न करना पल भर राग सयाने,
यहाँ जीव ने अब तक पहने हैं कितने ही बाने।
पिता पुत्र के रूप जन्मता बैरी बनता भाई,
देह त्यागकर पुत्र कभी बन जाता सगा जमाई॥

यह संसार असार है, जिस सार को तुम चाहते हो वह सार इस संसार में नहीं है अर्थात् जो घी तुम चाहते हो वह घी तो दूध में मिलेगा पानी में नहीं मिलेगा। यदि आत्मा का सार चाहते हो तो वह संसार के भौतिक पदार्थ व पुद्गल के टुकडों में नहीं मिलेगा, इसलिए कह दिया–यह संसार असार है, इस संसार में पल भर भी राग नहीं करना। हे चतुर!, हे बुद्धिमान्!, हे विवेकी! इस संसार में सोचो अभी तक इस जीव ने कितने बाने पहन लिए, कितनी पर्याय धारण की कभी मनुष्य का शरीर, कभी देव का शरीर, कभी नारकी का शरीर, कभी तिर्यंच पशु-पक्षी का शरीर, छोटा-बड़ा शरीर, दो-तीन इन्द्रिय आदि बनकर कितना भ्रमण करता रहा। और संसार की तो कोई नियति भी नहीं। क्या विश्वास करें कि कभी पिता ही अपना बेटा बन जाता है, कभी अपना भाई अपना बेटा बन जाता है, कभी पत्नी मरकर अपनी ही पोती बन जाती है, बहिन मरकर बेटी

बन जाती है; कुछ भी हो सकता है। बेटा मरकर के शत्रु बन सकता है, शत्रु मरकर के बेटा बन सकता है। और मरकर ही नहीं कभी-कभी तो अपना सगा बेटा ही अपना दुश्मन बन जाता है, अपनी पत्नी-भाई ही दुश्मन बन जाते हैं, यह संसार ऐसा ही है। और कभी पुत्र ही देह त्यागकर कहीं दूसरी जगह जन्म लेकर तुम्हारा जमाई बन सकता है। क्या-क्या नहीं बन सकता, संसार में क्या नाता है, क्या रिश्ता है, यह सब भ्रमजाल है, मायाजाल है, यदि ये संसार मोहजाल नहीं होता तो संसार में व्यक्ति अभी तक भ्रमण नहीं कर पाता।

शालिग्राम गाँव में एक प्रवर नाम का ब्राह्मण रहता था। जिसका खेती का काम था। उसके खेत के पास वटवृक्ष के नीचे दो श्याल रहते थे। एक दिन मूसलाधार वर्षा होने से वह ब्राह्मण खेत का सामान वहीं डालकर अपने घर लौट आया। तभी 7 दिन की निरंतर जलवृष्टि के कारण भूख से व्याकुल श्याल का जोड़ा खेत में पहुँचा और तीव्र क्षुधा के कारण पानी में भीगी रस्सी को खा गया। जिससे उदरशूल की अत्यंत वेदना से मृत्यु को प्राप्त होकर सोमशर्मा ब्राह्मण के यहाँ वे दोनों पुत्र रूप में उत्पन्न हुए।

प्रवर नाम का ब्राह्मण मृत्योपरान्त अपनी ही पुत्रवधु का पुत्र हुआ। अहो! संसार की बहुत विचित्र दशा है। आज वही पुत्र है, कल पिता था, आगे वही दामाद हो सकता है। यह कैसा संसार है। संसार की विचित्रता को दिखाने वाली कथाओं से प्रथमानुयोग परिपूरित है। राजा देवरति की कहानी आपने शायद सुनी होगी।

राजा देवरति अयोध्या नगरी के शासक थे, उनकी रानी का नाम रक्ता था। वे अपनी रानी में अत्यंत आसक्त थे। इस तीव्र आसक्ति के कारण मंत्रियों ने इनके पुत्र जयसेन को राजा बनाकर इन्हें राज्य से निकाल दिया। ये दोनों भटकते हुए जंगल में पहुँचे। वहाँ रानी भूख के कारण व्याकुल हो गई। रानी में आसक्त राजा ने अपनी जंघा का माँस काटकर रानी को खिलाकर उसकी भूख शांत की तथा भुजाओं से रक्त निकालकर औषधि बताकर रानी को पिलाया। कुछ समय पश्चात् वे दोनों यमुना के तट पर पहुँचे। वहाँ राजा ने रानी को एक पेड़ के नीचे बैठाया और स्वयं भोजन लेने चला गया।

वहीं एक छोटे से बगीचे में कोई अपंग मनुष्य चड़स खींचता हुआ गा रहा था। उसकी मधुर आवाज को सुनकर रक्ता भी वहाँ पहुँच गई। रानी मोहित होकर निर्लज्ज होकर उसके पास पहुँची। रानी की पाप वासना सुनकर वह अपंग बोला कि मैं एक भिखारी हूँ और आप एक रानी। हमारी जोड़ी कैसे बन सकती है? और यदि राजा साहब ने मुझे आपके साथ देख लिया तो वे मुझे जीवित नहीं छोड़ेंगे। रानी ने कुटिलता से कहा–तुम इसकी चिन्ता मत करो, उन्हें तो मैं ही परलोक पहुँचा दूँगी। सही है, दुराचारिणी स्त्रियाँ क्या-क्या अनर्थ नहीं करतीं। इधर जब राजा भोजन लेकर आया तब उस रानी ने मायाचारी से रोना प्रारंभ कर दिया। राजा, रानी की यह दशा देखकर भोजन के सामान को छोड़कर उसकी ओर भागा, बोला–क्या हुआ, किसी ने कुछ कह दिया क्या, जल्दी बताओ।

वह बोली राजन्! आप भूल गए हैं, आज आपका जन्मदिवस है पर आज मेरी भिखारिन् जैसी दशा है, मैं जन्मोत्सव कैसे मनाऊँ? राजा उसके मन का कपट न जान प्रेमपूर्वक कहने लगा प्रिय! तुम्हारे अतिरिक्त मुझे और क्या चाहिए, तुम बिल्कुल चिंता मत करो। वह कपटी रानी बोली–नाथ! ठीक है किन्तु अपने संतोष के लिए मैं इन फूलमाला द्वारा ही कुछ करती हूँ। यह कहकर देखते ही देखते रानी ने राजा को बाँध दिया। खूब कसकर बांधने पर भी राजा खुशी-खुशी बंध गया। तब रानी ने इशारे से उस अपंग को बुलाया और राजा को यमुना में फेंक दिया। अब वह रानी उस अपंग के साथ ही रहने लगी एवं उस अपंग को टोकरे में रखकर देश-विदेश में घूमने लगी और स्वयं को महासती बताती।

राजा देवरति पुण्य योग से बच गया और मंगलपुर शहर के निकट पहुँचा। संतान से हीन वहाँ के राजा श्रीवर्धन की मृत्यु होने पर हाथी को एक जल भरा कलश दिया और वह जिसका अभिषेक करे वही राजा होगा ऐसा निर्णय किया गया। तब देवरति पर जाकर उस हाथी ने अभिषेक किया और उसे नगर का राजा बना दिया। स्त्री आदि से विरक्त वह राजा देवरति न्यायपूर्वक राज्य करने लगा। इधर रक्ता रानी घूमते-घूमते सतीत्व प्रदर्शित करते हुए मंगलपुर आ गई।

दरबारी के निवेदन पर राजसभा में पर्दे के पीछे अपना गायन सुनाने की आज्ञा महाराज देवरति ने प्रदान की।

गायन सुनते ही राजा रक्ता की आवाज पहचान गया और उसका सत्य सबको बताया। पुनः अपने पुत्र जयसेन को अयोध्या से बुलाकर उसे राज्य सौंपकर स्वयं यमधराचार्य से जिनदीक्षा ग्रहण की।

महानुभाव! यह संसार इस प्रकार घृणित चरित्र वाले प्राणियों से घिरा हुआ है। यह संसार सज्जनों द्वारा सर्वथा त्याज्य है। जो संसार ऐसी अनेक विचित्रताओं से भरा हो भला उसमें कौन रहना चाहेगा। संसार में इन दशाओं को देख करके संसार से विरक्त होकर आत्मकल्याण के लिए उद्यत होना चाहिए। अन्यथा संसार में विषय भोगों में आसक्त अज्ञानी जीव किसी भी दशा में संसार में ही अनुरक्त रहकर परिभ्रमण करता हुआ अनंत दुःखों को सहन करता है।

राजा अरिंदम के विषय में आपने सुना होगा। जिसे अवधिज्ञानी कीर्तिधर मुनिराज ने बताया कि उसकी(राजा की) आयु मात्र एक सप्ताह रह गई है। उन्होंने बताया कि वह आज से सातवें दिन वज्रपात से मृत्यु को प्राप्त कर विष्ठागृह में कीड़ा होगा। यह सुनकर राजा महलों में आया एवं अपने पुत्र प्रीतिंकर से कहा कि जब मैं विष्ठागृह में कीड़ा होऊँगा तब तुम मुझे मार डालना। सात दिन पश्चात् जब पुत्र ने विष्ठागृह में स्थूल कीड़ा देखा तो वह उसे मारने को उद्यत हुआ; तब वह कीड़ा डरकर विष्ठा में ही छिप गया। पुत्र ने मुनिराज से पूछा कि, ''पिता के कथनानुसार जब में कीड़े को मारता हूँ तब वह क्यों भाग जाता है।

मुनिराज ने कहा कि यह प्राणी जिस योनि में जन्म लेता है, चाहे वह निन्दनीय हो या प्रशंसनीय, उसी में प्रीति को प्राप्त हो जाता है। संसार की दशा अत्यंत दु:ख उत्पन्न करने वाली है। इसे सुनकर प्रीतिंकर ने नि:स्पृह होकर जिनदीक्षा ग्रहण की।

महानुभाव! इस प्रकार संसार का चिन्तन कर उससे विरक्त होना चाहिए। संसार में एक ऐसी मोहिनी विद्या है जो ऐसे मोह लेती है कि जो तुम्हारा है उसे तो छीन लेती है और जो तुम्हारा नहीं है उसे तुम्हें पकड़ा देती है, लेकर के चलो आगे तक। जैसे रास्ते में कोई तुम्हारी रत्नों से भरी पोटली छीन ले और तुम्हें कंकड़-पत्थर से भरी पोटली पकड़ा दे और कहे इसे लेकर के आगे-आगे चलो, मैं तुम्हारे साथ चल रहा हूँ। आगे जाकर जब आप देखते हैं तो फिर कुछ नहीं, सिर्फ आप माथा पकड़कर के रोते हैं कि ये कंकड़-पत्थरों की पोटली मेरे हाथ कहाँ से आ गई और मेरे रत्नों की पोटली कहाँ चली गई। फिर दौड़कर जाते हो उसी खदान में जहाँ पर रत्न मिले थे, वहाँ से लाते हो। ऐसा हमने कई बार किया।

इस संसार में कर्म ही हमसे सब कुछ छीनने वाले हैं, संसार का व्यक्ति हमसे कुछ भी नहीं छीनता। जिन कर्म रूपी फलों में हम आसक्त हो रहे हैं, कभी पुण्योदय में मीठे फल खाकर खुश होते हैं तो कभी पापोदय के कड़वे फल खाकर घबराते हैं फिर उस वृक्ष को तोड़ते हैं, काटते हैं और दूसरा वृक्ष लगाते हैं। बोते ही रहते हैं। वृक्षों को बोने की परम्परा हमारी आत्मा ने आज तक बंद नहीं करी,

अब तो बंद करनी पड़ेगी। यदि आत्मा को परमात्मा बनाना है, यदि संसार के जन्म-मरण से छूटना चाहते हो तो इस परंपरा को बंद करना पड़ेगा ।

आचार्यों ने इस संसार को समुद्र की उपमा देकर वर्णन किया है कि यह संसार जिसमें अनेक प्रकार का दु:ख रूपी जल भरा हुआ है, 84 लाख योनि रूप भवरों से व्याप्त और अनंतकाय साधारण वनस्पति रूप जिसमें पाताल प्रदेश हैं, विचित्र चार गति रूप वेला-पत्तन जिसके तट पर स्थित हैं, राग, द्वेष, मद, क्रोध, लोभ और मोह आदि रूप भयंकर मगरमच्छादि जलचर जीवों से जो भरा है, एकेन्द्रिय आदि अनेक जातिरूप लहरें जिसमें उछल रही हैं। त्रस, स्थावर जीव रूप बुलबुले जिसमें उठ रहे हैं और जन्म-मरण-जरा आवर्त जिसमें हैं ऐसे संसार रूपी खेवटिया द्वारा चलाया गया यह जीवरूपी जहाज सतत चिरकाल से भ्रमण कर रहा है। आचार्य भगवन् जिनसेन स्वामी जी ने आदि पुराण में आदिनाथ भगवान् के वैराग्य का जहाँ वर्णन किया वहाँ उन्होंने लिखा–

निः सारे खलु संसारे सुखलेशोऽपि दुर्लभः।
दु:खमेव महत्तस्मिन् सुखं काम्यति मन्दधीः॥17॥

(सर्ग-17वाँ)

यह निश्चय है कि इस असार संसार में सुख का लेश मात्र भी दुर्लभ है और दु:ख बहुत भारी है फिर भी आश्चर्य है कि मन्दबुद्धि पुरुष उस संसार में सुख की इच्छा करते हैं।

जिस प्रकार नेत्र रहित व्यक्ति जंगल में दु:खी होकर भटकता है वैसे ही संसार रूपी जंगल में यह जीव मोहरूपी महाअंधकार से आवृत्त हो दु:खित मन युक्त हो चिरकाल तक भ्रमण करता रहता है।

महानुभाव! अनंत जन्मों को धारण कर परिभ्रमण करते हुए इस जीव ने ऐसी कोई कर्म वा नोकर्म वर्गणा बाकी नहीं है जो अनेक बार ग्रहण न की हो, तीन लोक में ऐसा कोई क्षेत्र बाकी नहीं जहाँ इस जीव ने जन्म-मरण न किया हो। नवीन-नवीन शरीरों को धारण करते हुए इस जीव को अनंतकाल व्यतीत हो गया। तथापि आज तक यह दुर्गम महासंसार पूर्ण नहीं हुआ। भगवान् के समक्ष यही मुहुर-मुहुर भावना भानी कि हे भगवन्! मुझ पापी ने आज तक इस संसार को नहीं छोड़ा अब मैं केवली प्रणीत इस जिनधर्म के प्रभाव से वह उपक्रम करूँगा, ऐसा मोक्ष पुरुषार्थ करूँगा जिससे संसार को पार कर कर्मबंधनों को तोड़कर आत्मिक सुख, अपना स्वतंत्र सुख प्राप्त करूँ।

महानुभाव! संसार का यही चिंतन बार-बार करना है कि इस असार संसार में मुझे बार-बार जन्म-मरण नहीं करना है। इन दोनों तटों के बीच की नदी में मुझे तैरना नहीं है अब मेरा स्वभाव संसार की नदी में तैरना नहीं इसके एक किनारे पर बैठकर के ज्ञाता-दृष्टा बनकर के अपने आत्मा के गुणों को भोगना ही मेरी आत्मा की नियति है, प्रकृति है, स्वभाव है उसे प्राप्त करने का हमें सम्यक् पुरुषार्थ करना चाहिए।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

संसार भावना संबंधित उपयोगी श्लोक व गाथाएँ

जातौ तिरश्चामथ देवभावे, मानुष्यके नारक दुःख योनौ।
जीवो घटीयन्त्रमिवास्वतन्त्रो बंभ्रम्यते संसृतिकल्पनैवा॥88॥

–31/88–वरांग च. (आ. जटासिंहनन्दि जी)

कभी समस्त दुःखों के भण्डार नरक योनि में उत्पन्न होना, दूसरे समय तिर्यंच जाति में भटकना, तीसरे अवसर पर मनुष्य पर्याय के चक्र में पड़ना तथा अन्य समय देवगति के विषय-भोगों में भरमना, इन्हीं आवागमनों को संसार कहते हैं। इसमें पड़े जीव रहट की घड़ियों के समान सर्वथा कर्मों के पराधीन होकर नीचे-ऊपर आया जाया करते हैं।

सुतीव्रासातसन्तप्ता, मिथ्यात्वातङ्कशङ्किताः।
पञ्चधा परिवर्तन्ते, प्राणिनो जन्मदुर्गमे॥75॥

–ज्ञाना. (आ. शुभचंद्र स्वामी)

अतिशय तीव्र दुःख से संताप को प्राप्त हुए और मिथ्यात्व रूप रोग से भयभीत प्राणी संसाररूप गहन वन में पाँच प्रकार से परिवर्तन करते हैं।

पंचविहे संसारे, जाइ-जरा-मरण-रोगभय पउरे।
जिणमग्गमपेच्छंतो, जीवो परिभमदि चिरकालं॥24॥ वा. अ.

–आ.कुंदकुंद स्वामी

जिन भगवान् द्वारा प्रणीत मार्ग की प्रतीति को नहीं करता हुआ जीव चिरकाल से जन्म, मरण, जरा, रोग और भय से परिपूर्ण पाँच प्रकार के संसार मे परिभ्रमण करता है।

यत्सुखं तत्सुखाभासं यद्दुःखं तत्सदाञ्जसा।
भवे लोकाः सुखं सत्यं, मोक्ष एव स साध्यताम्॥6/47॥

–प. पंच. (आ. पद्मनन्दि)

संसार में जो सुख है वह सुख का आभास है–यथार्थ सुख नहीं है, परन्तु जो दुःख है वह वास्तविक है और सदा रहने वाला है। सच्चा सुख मोक्ष में ही है, इसलिए हे भव्यजनों! उसे ही सिद्ध करना चाहिए, इस प्रकार संसार के स्वरूप का चिन्तवन करना संसार भावना है।

बहुदुक्खावत्ताए, संसारणदीए पावकलुसाय।
भमइ वरागो जीवो, अण्णाणनिमीलिदो सुचिरं॥1784॥

–भ.आ. (आ. शिवकोटि जी)

अज्ञान मे पड़ा हुआ यह बेचारा जीव पापरूपी मैले पानी से भरी और बहुत दुःखरूपी भँवरों से युक्त संसार रूपी नदी में चिरकाल तक भ्रमण करता है।

एक्कं चयदि शरीरं, अण्णं गिण्हेदि णवणवं जीवो।
पुणु पुणु अण्णं अण्णं, गिण्हदि मुंचेदि बहुवारं॥32॥

–का.नु. (आ. कार्तिकेय जी)

यह जीव एक शरीर को छोड़ता है फिर नवीन शरीर को ग्रहण करता है, फिर अन्य-अन्य शरीर को कई बार ग्रहण करता है और छोड़ता है, यही संसार कहलाता है।

होच्चु जो कम्मजुत्तं परिब्भमेदि जस्सिं सया जीवो।
णादव्वो संसारो, लहदि जम्माइ-घोर-दुहाणि॥53॥

–अनुप्रेक्षा सार (आ. वसुनंदी मुनि)

जहाँ जीव कर्मों से युक्त होकर सदा परिभ्रमण करता रहता है उसे संसार जानना चाहिए। यहाँ जीव जन्मादि घोर दु:खों को प्राप्त करता है, इस प्रकार का चिन्तवन करना संसारानुप्रेक्षा है।

इति संसारकान्तारेऽनादौघोरेभ्रमन्त्यहो।
धर्मरत्नत्रयोपेतं, ह्यप्राप्येन्द्रिलोलुपाः॥27॥

–मूला. प्रदीप (आ. सकलकीर्ति जी)

इंद्रियों के लोलुपी जीव रत्नत्रय से सुशोभित धर्म को न पाकर अनादिकाल से चले आए घोर-दु:खमय संसाररूपी वन में सदा परिभ्रमण किया करते हैं।

श्यालोर्मुखमभ्येत्य व्याधारब्धो यथा शशः।
मन्वानो विवरं दीनः प्रयाति यममंदिरम्॥
क्षुत्तृष्णादि महाव्याध प्रारब्धश्चेतनस्तथा।
अज्ञो दु:खकरं याति संसार भुजगाननम्॥1872-1873॥

–मरणकंडिका (आ. अमितगति जी)

जैसे खरगोश व्याघ्र से पीड़ित होकर दौड़ता है और अजगर के मुख में 'यह बिल है' ऐसा मानकर घुसता है और वह बेचारा मृत्यु को प्राप्त होता है; ठीक इसी प्रकार भूख-प्यास आदि महाव्याध से पीड़ित हुआ यह त्रस जीव संसार रूपी अजगर के मुख में ''यहाँ सुख होगा'' ऐसा समझकर प्रविष्ट होता है और बार-बार जन्म-मरण के दु:ख को पाता है।

चतुर्गत्यात्मके भीमे, दुरन्ते भवकूपके।
कर्मणा बद्धमानोयं, जीवः पतति पापतः।।34।।

– सुधर्म ध्यान प्रदीप

चारों गतियों से भरा हुआ यह संसार रूपी कुआँ अत्यन्त ही भयानक है। कर्मों से बंधा हुआ यह जीव पापकर्म के उदय से इसी संसार रूपी कुआँ में पड़ा रहता है।

श्वभ्रेदुःखमनारतं घनतरं तिर्यग्गतौ केवलं,
मानुष्येऽपि वियोगशोकजनितं दारिद्र्यरोगादिजम्।
देवत्वेऽपि सुराङ्गनाच्यवनजं दाहप्रदं मानसं,
मत्वेतीह जनाः शिवं सुखनिधिं यत्नाद् भजध्वं द्रुतम्।। 15 सर्ग/31

–श्री पार्श्वनाथ चरितम् (आ. सकलकीर्ति जी)

नरक में निरन्तर तीव्रतर दुःख हैं, तिर्यञ्चगति में मात्र दुःख है, मनुष्य गति में वियोग और शोक से उत्पन्न तथा दरिद्रता और रोग आदि से होने वाला दुःख है और देवगति में भी देवाङ्गनाओं के च्युत हो जाने से उत्पन्न दाह को देने वाला मानसिक दुःख है। ऐसा जानकर हे ज्ञानीजन हो! शीघ्र ही सुख के भाण्डारस्वरूप मोक्ष की उपासना यत्न से करो

संसारोऽति भयंकरोऽतिचपलो दुःखार्णवोशऽर्मभृ-
देकोंऽज्ञप्यघ पातकः प्रतिदिनं दुःखी भ्रमे संसृतिं।।5 परि./105

– श्री मल्लिनाथ पुराण (आ. सकलकीर्तिस्वामी जी)

यह संसार अत्यन्त भयानक है, अतिशय चंचल है, अनेक प्रकार के दुःखों का समुद्र है एवं अनेक प्रकार के अकल्याणों का करने वाला है। ऐसे महाभयानक संसार में

यह बिचारा दीन जीव अकेला ही अपने पाप कर्मों के फल से महादु:खित ही भ्रमण करता फिरता है, इसे रंचमात्र भी शांति नहीं मिलती।

कर्म विपाक वशादात्मनो भवान्तरावाप्तिः संसारः। तस्मिन्ननेकयोनिकुलकोटि बहुशतसहस्रसंकटे संसारे परिभ्रमन् जीवः कर्मयन्त्रप्रेरितः पिता भूत्वा भ्राता पुत्र पौत्रश्च भवति। माता भूत्वा भगिनी भार्या दुहिता च भवति। स्वामी भूत्वा दासो भवति। दासो भूत्वा स्वाम्यपि भवति। नट इव रङ्गे अथवा किं बहुना, स्वयमात्मनः पुत्रो भवतीत्येवमादि संसार स्वभाव चिन्तनं संसारानुप्रेक्षा।

–स.सि. (आ. पूज्यपाद स्वामी)

कर्म के विपाक के वंश से आत्मा को भवान्तर की प्राप्ति होना संसार है। अनेक योनि और कुलकोटि लाख से व्याप्त इस संसार में परिभ्रमण करता हुआ यह जीव कर्मयन्त्र से प्रेरित होकर पिता होकर भाई, पुत्र और पौत्र होता है। माता होकर भगिनी, भार्या और लड़की होता है, स्वामी होकर दास होता है तथा दास होकर स्वामी भी होता है। जिस प्रकार रंगस्थल में नट नाना रूप धारण करता है उसी प्रकार यह होता है। अथवा बहुत कहने से क्या प्रयोजन स्वयं अपना पुत्र होता है। इत्यादि रूप से संसार का चिन्तवन करना संसारानुप्रेक्षा है।

चतुर्गति-घटीयन्त्रे, सन्निवेश्य घटीमिव।
आत्मानं भ्रमयत्येष हा कष्टं कर्म-कच्छिकः॥6/33॥

–तत्त्वार्थसार, आ. अमृतचंद्र सूरी

जैसे घटीयंत्र में घटी लगाकर काछी उसे फिराता है उसी प्रकार चतुर्गतिरूप घटीयंत्र में यह कर्मरूपी काछी जीवरूप घटी को लगाकर निरन्तर फिराता है, यह बड़ा कष्ट है। इस कर्म के वश प्राणी को कभी नरक तो कभी देव-नाना योनियों में फिरना पड़ता है। कभी चैन से स्थिर नहीं हो पाता। इस फिराने का नाम कर्म है। इस परिभ्रमण-का नाम ही संसार है। इसलिए समझना चाहिए कि संसार कोई सुख की चीज नहीं है।

संसारो दु:सहो श्रेयश्चतुर्गति समन्वित:।
यत्र जीवा: स्व कृत्येन संसरन्ति निरन्तरम्॥10/50॥

–श्रीपाल चरित्र (आ. सकलकीर्ति जी)

यह संसार चारों गतियों से निर्मित है, दु:सह है। यहाँ जीव स्वयं के कर्मों के द्वारा निरन्तर परिभ्रमण करता रहता है। इस प्रकार दु:खरूप चारों गतियों से समन्वित इस संसार का चिन्तवन करना संसार भावना है।

एक्कं च यदि सरीरं अण्णं गिहणेदि णवणवं जीवो।
पुणु पुणु अण्णं अण्णं गिह्णदि मुंचेदि बहुवारं॥
एकं जं संसरणं णाणादेहेसु हवदि जीवस्स।
सो संसारो भणदि मिच्छकसायेहिं जुत्तस्स॥

–यशोधर चरित्र, (पुष्पदंत कवि)

एकान्त वस्तु स्वरूप के श्रद्धान रूप मिथ्यात्व और क्रोधादि चार कषायों से युक्त जीव के अनेक देहों में संसरण (भ्रमण) होता है, यही संसार है। सो इस प्रकार कि

एक शरीर को छोड़ अन्य शरीर को ग्रहण करे पुनः ग्रहण कर उसे भी छोड़े, तथा अन्य को ग्रहण करे, उसीप्रकार बार-बार ग्रहण करे और छोड़े, वही संसार है।

नैकयोनिकुलकोटिकूटसंसार चक्रमिह यान्ति जन्तवः।
प्रेरिताः कटुककर्मयन्त्रकै स्वामिभृत्यपितृपुत्रपूर्वताम्॥63/81॥

–हरि पु., (आ. जिनसेनस्वामी जी)

नाना योनियों और कुलकोटियों के समूह से युक्त इस संसार रूपी चक्र के ऊपर चढ़े प्राणी, महाविषम कर्मरूपी यंत्र से प्रेरित हो स्वामी से भृत्य और पिता से पुत्र आदि अवस्थाओं को प्राप्त होता है।

4.

एकत्व अनुप्रेक्षा

भाई जन्में जीव इक, इकला ही मर जाए।
निजकृत अघ अरु पुण्य का, इकला ही फल पाए।।
इकला ही फल पाए, कर्म जो जैसे करता।
उनका फल सुख-दुःख, सदा इकला ही भरता।।
कहें सूरि वसुनंदि, धर्म नित-नित सुखदायी।
स्वर्ग नरक शिव पाए, जीव इकला रे भाई।।

आप अकेलो अवतरे, मरे अकेलो होय
यूँ कबहुँ इस जीव को, साथी सगा न कोय

एकत्व अनुप्रेक्षा

महानुभाव!

विगत दिवस आप सुन रहे थे। संसार की दशा के बारे में। संसार क्या है, कैसा है, क्यों है, कब से है, कब तक रहेगा? यह संसार अनादिनिधन है। यह ऐसी नदी है जिस नदी में जन्म-मरण के दो तट हैं। उन तटों के मध्य में जीवन रूपी धार में ये जीव आगे-पीछे गमन करता रहता है। एक छोर से दूसरे छोर पर, दूसरे छोर से प्रथम छोर पर चलता ही रहता है। सभी चल रहे हैं किन्तु सभी के मार्ग अपने-अपने अलग-अलग हैं कोई किसी के बनाए मार्ग पर चल नहीं सकता, जैसे कोई किसी के द्वारा लगाए वृक्ष को खा नहीं सकता। प्रत्येक आत्मा की नियति-प्रकृति-वृत्ति-प्रवृत्ति सब पृथक्-पृथक् हैं।

कोई भी आत्मा किसी भी आत्मा के साथ रहकर उस रूप नहीं होता और दूसरी आत्मा इस आत्मा रूप नहीं हो सकती, सब अलग-अलग हैं।

महानुभाव! संसार में अनंतानंत द्रव्य हैं, वे छह प्रकार के हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। जीव क्या है? जिसमें जीवत्व शक्ति है वह जीव है। पुद्गल क्या है? जिसकी पर्याय पूरण व गले, जिसमें पौद्गलत्वपना पाया जाए अर्थात् जो नष्ट हो व उत्पन्न हो वह पुद्गल है। धर्म द्रव्य क्या है? 'धारयति' जीव और पुद्गलों को जो धारण करता है, संचरण करने के लिए

निमित्त बनता है वह धर्म द्रव्य है। अधर्म द्रव्य? जो संचरण में निमित्त नहीं बनता, जो ठहरते हुए जीव व पुद्गलों के ठहरने में उदासीन निमित्त है, वह अधर्म द्रव्य है। आकाश द्रव्य सबको अवगाहन देता है, कालद्रव्य का अर्थ है परिणमत्व, जो परिणमन में सहकारी है। आप सभी जानते हैं आकाश द्रव्य अखण्ड है फिर भी समझने के लिए लोकाकाश और अलोकाकाश दो रूप में आप समझते हैं किन्तु आकाश एक अखण्ड है। धर्म द्रव्य अखंड है, अधर्म द्रव्य अखण्ड है, काल के कालाणु असंख्यात हैं और पुद्गल अनंत प्रकार का है। अनंत पुद्गल हैं और जीव भी इस संसार में अनंत हैं।

सब अलग-अलग हैं, एक निगोदिया शरीर में अनंत जीवों का वास होने पर भी सभी निगोदिया जीव अलग-अलग हैं। एक सिद्ध परमेष्ठी में अनंत आत्माओं का वास होने पर भी सबका अस्तित्व अलग-अलग है।

इक सिद्ध में सिद्ध अनंत जान।
अपनी अपनी सत्ता प्रमाण॥
अण्णोणं पविसंता, देंता ओगासमण्णमण्णस्स।
मेलंता वि य णिच्चं, सगसब्भावं ण विजहंति॥7॥

–(पंचास्तिकाय)

सभी द्रव्य एक साथ रहते हुए भी अपने-अपने स्वभाव को कोई नहीं छोड़ते। अनंत द्रव्य एक साथ रहते हैं, सभी के पृथक-पृथक स्वभाव हैं। आज जिस भावना के बारे में चर्चा कर रहे हैं वह है एकत्व भावना।

एक भावना नहीं एकत्व भावना। 'त्व' का अर्थ कहिए तो उस एक का एकपना, एक का सार; जिसके बिना एक-एक नहीं माना जाए। जैसे अभेद का अभेदपना अर्थात् अभेदत्व, अनेक का अनेकपना अनेकत्व, भेद का भेदपना अर्थात् भेदत्व। त्व का अर्थ कहा जाता है उसका सार। तत्त्व-उसका स्वभाव। एकत्व-एक का सार। क्या है एक? एकपना मेरी आत्मा का स्वभाव है।

संसार में प्रत्येक जीव एकपने से युक्त है कोई जीव दूसरे से मिला हुआ नहीं है। अनादिकाल से आज तक, आज से अनंत काल तक प्रत्येक जीव का अस्तित्व अलग-अलग है चाहे वे साधारण निगोदिया जीव ही क्यों न हों फिर भी वे अपना स्वचतुष्टय अर्थात् स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव अलग ही रखते हैं। एकत्व अर्थात् जीव अकेला ही अपनी आत्मा में कर्मों को बाँधता है, उसकी आत्मा में कोई अन्य जीव कर्म नहीं बाँध सकता, वही अपने कर्मों को नाश करता है अर्थात् निर्जरा भी करता है और फल भी भोगता है। वही जीव अपनी आत्मा में आने वाले कर्मों का संवर भी करता है। चाहे वह जीव भले ही कितने भी जीवों के साथ रहे, चाहे वह द्वेष बुद्धि से रहे चाहे राग बुद्धि से रहे। व्यक्ति सामने वाले को दो प्रकार से पकड़ता है। एक पकड़ता है कि मैं उसके बिना रह नहीं सकता राग बुद्धि से, दूसरा मैं इसे कभी छोड़ूँगा नहीं इस प्रकार की द्वेष बुद्धि से। दोनों को ही उपयोग से पकड़ ही तो लिया।

एक सत्य घटना है इंदौर की, आज से 20-30 वर्ष पहले एक चील ने अपने मुख में एक सर्प को दबा लिया,

वह घायल सर्प आकाश में चील के मुख में उड़ रहा था, नीचे सड़क पर लोगों का गमनागमन चालू था। चील की चोंच ढीली पड़ने से वह सर्प नीचे एक बाइक वाले पर गिरा और तत्क्षण ही उस सर्प ने उस व्यक्ति को डस लिया। इतने में ही वह चील पुनः आयी, सर्प को दबाकर ले गई और वह व्यक्ति वहीं मृत्यु को प्राप्त हो गया। सर्प ने उस व्यक्ति को क्यों डसा? वह व्यक्ति क्यों मरा? सड़क पर इतनी भीड़ थी पर सर्प उस पर ही क्यों गिरा? क्योंकि उस व्यक्ति ने पूर्व में ऐसे कर्म का बंध किया होगा, उस सर्प को मारा होगा या उसका बुरा किया होगा इससे वह सर्प का जीव बैर के संस्कारवशात् उस व्यक्ति को मृत्यु देकर स्वयं भले ही मृत्यु को प्राप्त हो गया।

दूसरी घटना मध्य प्रदेश के पन्ना जिले की है। वहाँ एक स्थान है 'मोदरा'। बरसात के दिनों में वहाँ से कुछ लोग लकड़ी काटकर लाते हैं। वहीं आसपास की ग्रामीण महिलाएँ भी लकड़ी काटकर लाती हैं। एक महिला ने सूखी लकड़ी बीनकर गट्ठर बनाया और सोच रही थी इस भारी गट्ठर को कैसे उठाऊँ, कैसे अपने सिर पर रखूँ। जैसे-तैसे गट्ठर उठाकर वह अपने गाँव की तरफ आ रही थी। इधर रास्ते में एक ट्रक भी लकड़ी से भरा हुआ आ रहा था, संध्याकाल का समय था, ट्रक वाले ने सोचा यह महिला इतना भारी गट्ठर लेकर जा रही है इसे अपने ट्रक में बिठाकर इसके गाँव तक छोड़ दूँगा। उस व्यक्ति ने ट्रक रोका-महिला से कहा, आप इसमें बैठ जाइए मैं आपको

आपके स्थान तक छोड़ देता हूँ, वैसे ट्रक वाला और स्त्री एक दूसरे को जानते भी थे। वह स्त्री उस ट्रक में बैठ गई। महिला ने अपना गट्ठर भी उसमें रख दिया। थोड़ी ही देर हुई कि वह महिला चिल्लाने लगी, बचाओ-बचाओ। उसी समय एक बाइक वाला व्यक्ति पीछे से आया; उसे लगा शायद यह ट्रक वाला व्यक्ति उस महिला को भगाकर ले जा रहा है। उसने अपनी बाइक आगे लगा ली, ट्रक वाले ने पूछा क्या हुआ? वह बोला–महिला जो तुम्हारे ट्रक में बैठी है वह चिल्ला रही है, आखिर क्या बात है? ट्रक वाला उतरा, महिला से पूछा क्या हो गया–वह बोली लगता है मेरी साड़ी में कोई जानवर घुस गया है, मैंने उसे ऊपर से ही पकड़ लिया है, वह मेरी मुट्ठी में ही है। वह मुझे डस नहीं पाया। उसका मुख मैंने अपनी साड़ी से ही पकड़ लिया है। सबने कहा आप डरो नहीं आप अपना पैर कसकर झटकार दो जिससे वह जानवर नीचे गिर जाएगा। महिला ने पैर झटकारा; एक छोटा सा गुहेरा उसमें से निकलकर बाइक पर जो व्यक्ति आया था उस पर चढ़ा और उसे काट खाया। व्यक्ति तत्काल ही मृत्यु को प्राप्त हो गया। महिला बच गई, ट्रक वाला भी बच गया। सभी लोग देखते रह गये। वह गुहेरा भी झाड़ियों में चला गया।

महानुभाव! इतने लोग वहाँ खड़े थे, उस गुहेरा से बाइक वाले की ही मृत्यु क्यों? क्योंकि उस गुहेरा के जीव से पूर्व में उस व्यक्ति का कोई संबंध रहा होगा, आज उसकी मृत्यु से उसने अपना बदला लिया, महिला की साड़ी में घुसकर भी महिला को नहीं काटा।

राजस्थान प्रान्त के भरतपुर जिले में धौलपुर नामक तहसील थी। 'बाडीबसेड़ी' भी राजस्थान में ही आता था। इधर एक बस करौली साइड से धौलपुर होते हुए ग्वालियर जा रही थी। चातुर्मास का समय था, चम्बल के पुराने पुल पर पानी ऊपर आ जाता था, जिससे कई बार दो-तीन दिन तक मार्ग अवरुद्ध भी हो जाता था। वह बस पूरी भरी हुई थी, ड्राइवर ने सोचा पानी आ रहा है मैं जल्दी से बस को cross कर दूँ और उसने बस को speed में निकाला वह बस पुल से टकरायी और सीधे नदी में (चम्बल) गिर गई। जैसे ही बस टकरायी उस बस में खिड़की के सहारे एक युवती बैठी हुई थी, उसकी गोदी में बालक था, बस टकराने से वह बालक खिड़की में से झटककर नीचे गिर गया और पूरी बस पानी में गिर गई। उस बस का कोई भी यात्री जीवित नहीं बचा, बस वह बालक जो मात्र 2-3 माह का था नदी के उस पार गिरा और बच गया।

महानुभाव! वह जीव पूर्व का पुण्य लेकर आया इसीलिए सिर्फ वही बचा, अन्य सभी मृत्यु को प्राप्त हो गये। प्रत्येक जीव अपने ही पुण्य-पाप का फल भोगता है। एकत्व भावना का अर्थ यही है कि प्रत्येक जीव अपने पुण्य-पाप का फल सुख-दुःख स्वयं अकेला ही भोगता है, अन्य नहीं। इस संसार में अनंत जीव हैं सभी अपने-अपने कर्मों का फल भोगते हैं। डाकू भले ही सभी को लूटता हो, उस धन से अपने परिवार का भरण-पोषण करता हो किन्तु उसका फल वह डाकू ही भोगता है, वो ही नरक में जाता है, उसके

परिवार वाले नहीं और जहाँ परिवार वाले भी उस डाकू के पाप की अनुमोदना करते हैं तो वे भी नरक जाएँगे।

राक्षस वंश में रावण नाम का एक प्रतिनारायण हुआ। रावण ने यदि गलत कार्य किया तो सिर्फ वह ही नरक में गया कुंभकर्ण, विभीषण, इंद्रजीत आदि नहीं गये, इससे सिद्ध होता है कि व्यक्ति अपने ही पुण्य-पाप का फल भोगता है। एक ही व्यक्ति के जीवन में तीव्र पापकर्म का उदय भी आ सकता है और तीव्र पुण्यकर्म का उदय भी आ सकता है। सनत्कुमार चक्रवर्ती जिसने पुण्य से चक्रवर्ती का वैभव पाया, अत्यंत रूपवान्, सुंदर शरीर पाया। स्वर्ग में भी जिनके सौन्दर्य की चर्चा हो रही थी पुनः पाप का ऐसा उदय आया कि शरीर में कुष्टरोग हो गया, वैद्य का रूप रखकर देव परीक्षा लेने आये। फिर ऐसा भी समय आया कि सनत्कुमार चक्रवर्ती को मुनि अवस्था में आहार देने वाला कोई नहीं वनस्पति बेचने वाली महिला ने चौका लगाकर आहार दिया। इसी तरह भगवान् पार्श्वनाथ स्वामी, भगवान् महावीर स्वामी, भगवान् सुपार्श्वनाथ स्वामी आदि ने अकेले ही उपसर्ग को सहन किया। चाहे इनके साथ कितना बड़ा परिवार भी था तो क्या हुआ? कर्म का उदय जिसका था फल तो उसे ही भोगना था। ऐसे ही पुण्य का उदय आता है तो पुण्य का फल भी वही जीव भोगता है अन्य जीव नहीं।

बलभद्र और श्रीकृष्ण के पुण्य का उदय था उनके पुण्योदय से द्वारिका नगरी की रचना हुई। वह द्वारिका नगरी जल में बनी किन्तु जब बाद में पाप का उदय आया तो

द्वीपायन मुनि के निमित्त से पूरी द्वारिका जल गई। नारायण श्रीकृष्ण जी ने व बलभद्र ने अपने माता-पिता को बचाने का प्रयास किया किन्तु बचा न सके। जो पुण्यात्मा जीव थे वे पहले ही नगर के बाहर थे अथवा दीक्षा लेने चले गये किन्तु उस इतनी बड़ी नगरी में जितने लोग थे वे सब जलकर स्वाहा हो गये। कई बार ऐसा होता है, यदि कोई समूह मिलकर पाप करता है तो समूह ही उस पाप के फल को भोगता है, कोई समूह मिलकर पुण्य करता है तो वह समूह ही पुण्य के फल को प्राप्त करता है।

महानुभाव! हमारे जैन वाङ्मय में ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि वास्तव में यह जीव ही अकेला पुण्य-पाप का फल भोगता है। इसीलिए प्रत्येक जीव के जीवन में चाहे कितने ही पुण्य का उदय आ जाए या कितने ही पाप का उदय आ जाए, घबराना नहीं चाहिए, कर्मोदय का चिंतन करना चाहिए कि यह मेरे ही सुकृत या दुष्कृत कार्यों का परिणाम है। कभी किसी को दोष न लगाएँ, सदैव समताभाव रखें। पुण्योदय में भी मन को धर्म में ही संलग्न रखें तभी अपनी आत्मा का हित संभव है। यह एकत्व भावना संसार-शरीर-भोगों से विरक्ति का एक अचूक उपाय है।

महानुभाव! आत्मा तो एकत्व भाव से युक्त है। वह एकत्व स्वभाव वाली थी, आज भी एकत्व स्वभाव वाली है और अनंतकाल के बाद भी एकत्व भाव वाली रहेगी। आत्मा में परत्व न था, न है, न कभी हो सकेगा। आत्मा

अनेकत्व में न तो कभी थी, न है और न हो सकेगी। आत्मा के असंख्यात प्रदेश इतने ही थे, इतने ही हैं, इतने ही रहेंगे। ये प्रदेश कभी बिखरकर अलग-अलग नहीं हो सकते, एक आत्मा है।

आप कहेंगे निगोदिया जीवों में ऐसा देखा जाता है एक शरीर के जन्म से अनंत शरीरों का जन्म होता है और एक शरीर की मृत्यु से अनंत शरीरों की मृत्यु होती है। वे एक साथ वर्गणा ग्रहण करते हैं किन्तु इतना होने पर भी सब जीवों का कर्म अलग-अलग है सब जीव अलग-अलग हैं एक नहीं हो सकते।

महानुभाव! आचार्य भगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने बारसाणुवेक्खा ग्रन्थ में लिखा है–

एक्को करेदि कम्मं, एक्को हिंडदि य दीह संसारे।
एक्को जायदि मरदि य, तस्स फलं भुंजदे एक्को॥14॥

आचार्य भगवन् श्री कुन्द-कुन्द स्वामी कहते हैं–यह जीव अकेला ही कर्म करता है, दीर्घ संसार में जीव अकेला ही भ्रमण करता है, यह जीव अकेला ही जन्मता है, मरता है और उसके फल को भी अकेला ही भोगता है अन्य कोई नहीं भोगता। दूसरा जो भोगता है वह अपने कर्म को भोगता है, मैं भोगता हूँ तो अपने कर्म का फल भोगता हूँ। मेरे कर्म का एक परमाणु भी दूसरा भोग नहीं सकता, दूसरे के द्वारा बांधा गया एक परमाणु भी मैं नहीं भोग सकता। प्रत्येक आत्मा अपने-अपने कृत्य का फल भोगती है, चाहे

वह कृत्य सुकृत्य हो या दुष्कृत्य हो, अच्छा हो या बुरा हो। यद्यपि कृत्य करना आत्मा का स्वभाव नहीं है।

एक्को हं णिम्ममो सुद्धो, णाण-दंसण-लक्खणो।
सेसा बाहिरा भावा, सव्वे संजोग लक्खणा॥

मैं तो एक हूँ, निर्मम हूँ, शुद्ध हूँ, ज्ञान-दर्शन लक्षण वाला हूँ, जितने भी मेरे बाहिर भाव हैं यह सब संयोगी भाव हैं कोई भी संयोग अनंतकाल तक नहीं रहता। आप कहेंगे महाराज जी ऐसा कैसे कह रहे हैं? कर्मों का संयोग आत्मा के साथ है, अनादिकाल से अनंतकाल तक रहेगा। हाँ, किन्तु उन वर्गणाओं का नहीं है जिनको पहले बांधा था, वे तो बिखर गईं, दूसरी बंध गईं, फिर वे बिखर गईं तीसरी बंध गईं ऐसे कर्म वर्गणाएँ बदलती रहती हैं। किसी भी पुद्गल के परमाणु का आत्मा के साथ शाश्वत संबंध नहीं हो सकता, सब निर्जीण होता जाता है, नूतन-नूतन बंधता चला जाता है। आत्मा का संयोग है। संयोग का वियोग नियम से होता ही होता है, चाहे वह इष्ट वस्तु का संयोग हो अथवा अनिष्ट वस्तु का संयोग हो।

महानुभाव! आचार्य भगवन् पूज्यपाद स्वामी कह रहे हैं–

एकोऽहं निर्ममः शुद्धो, ज्ञानी योगीन्द्र-गोचरः।
बाह्याः संयोगजा भावा, मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा॥27॥

–इष्टोपदेश

मैं एक हूँ, निर्मम हूँ ममत्व भाव से रहित हूँ। **'ज्ञानी योगीन्द्र गोचरः'** और ज्ञानियों के द्वारा गोचर हूँ। जो अज्ञानी हैं वो अपनी एक आत्मा को नहीं जान पाते, ज्ञानी जान पाते

हैं। जो भोगी हैं वे एक आत्मा को नहीं जान पाते, योगी जान पाते हैं। भोगी अकेला भोग नहीं करता, उसे भोगने के लिये दूसरी वस्तु चाहिए किन्तु योगी अपने तीनों योगों से भी विरक्त होकर के वियोगी बनने के लिये अयोगी बनने के लिये एकत्व का चिंतन करता है।

किसी निर्जन वन, गुफा, पहाड़ की चोटी, कन्दाराओं में, संसार की भीड़ से दूर आत्मनीड़ में रहकर वह योगी चिंतन करता है कि मैं अनादि से अकेला ही परिभ्रमण करता रहा, अनेक दु:खों से भरे इस संसार में कोई किसी का सहायक नहीं। यह जीव अपने पुण्य रूप नर, सुर गतियों के इन्द्रादि सुख, चक्रवर्ती, कामदेव, तीर्थंकरादि सुखों को भी अकेला ही भोगता है और अकेला ही यह जीव पाप के क्लेश को भी भोगता है। उसके सुख-दु:ख को बाँटने वाला अन्य कोई नहीं वह स्वयं ही होता है। यह जीव जिस शरीर को अनेक सुख देने वाली भोगोपभोग सामग्री से पोषित करता है वह शरीर भी इस जीव के साथ एक कदम भी साथ नहीं जाता, दुष्ट के समान वहीं पड़ा रहता है। यदि कहें कि कुंटुंबीजन मेरे हैं तो वे भी निपट स्वार्थी हैं। सभी अपना-अपना कार्य सिद्ध करने में तत्पर रहते हैं। वे भला इस जीव के साथ कैसे जा सकते हैं। इस संसार में मैं अकेला हूँ कोई किसी का नहीं, मैं भी किसी का नहीं, प्रत्येक जीव स्वतंत्र है, नित्य है, अखण्ड है, शुद्ध व विकल है। यह जीवात्मा अपने स्वरूप को भुलाकर ही चतुर्गति में भ्रमण करता है, बहुत दु:खों को भोगता है। इसका कारण सिर्फ और सिर्फ यही है

कि अनादि से यह जीव मोह के वशीभूत हो एकत्वविभक्त आत्मा को नहीं जानता।

सम्यग्दर्शन आदि धर्म आत्मा का निजी धर्म है, आत्मा से अभिन्न है, अनादि से मिथ्यात्व आदि द्वारा यह धर्म ढक रहा है; मिथ्यात्व आदि के हटने पर प्रगट होता है। यह धर्म ही हमारा परलोक में कल्याणकारक मित्र है। रत्नत्रय धर्म को छोड़कर इस जीव का अन्य कोई भी नहीं है ऐसा एकत्वभावना में विचार करना चाहिए।

महानुभाव! एकत्व का चिंतन वह नहीं करता जिसे अंतरंग में डर लगता है, भीरुता है, घबराता है। एकत्व के साथ अज्ञानी व्यक्ति को खतरा ही खतरा नजर आता है इसलिए अज्ञानी व्यक्ति कभी अकेला रहना नहीं चाहता। कभी अकेला बैठ भी जाए तो उसे अपने किये दुष्कृत्य, पाप दिखाई देने लग जाते हैं, पाप के फल दिखाई देने लग जाते हैं इससे वह घबराता है। मित्रों के पास दौड़ता है, परिवारीजनों के पास भागता है, यहाँ-वहाँ भटकता है किन्तु अकेला नहीं बैठ सकता। दूसरी ओर ज्ञानी दूसरों में रमण नहीं करना चाहता। अज्ञानी दूसरों के बिना रह नहीं सकता और ज्ञानी दूसरों के बीच रह नहीं सकता। अज्ञानी को भीड़ चाहिए और ज्ञानी को अपना नीड़ चाहिए।

एकत्व भावना का चिंतवन वही कर सकता है जिसे अपने नीड़ में पहुँचने की भावना है अन्यथा एकत्व अनुप्रेक्षा का चिंतन सबके द्वारा संभव नहीं है। जब दो साथ में होते हैं तब फिर द्वित्व का अनुभव होता है एक का नहीं

होता। जैसे व्यक्ति केवल दूध पीये तो स्वाद केवल दूध का आएगा, शक्कर खाये तो स्वाद शक्कर का आएगा दोनों को मिला दो तो स्वाद mix रूप से आता है। इसी प्रकार एकत्वपने के साथ एकत्व का स्वाद आता है जब तक अन्यत्व-भिन्नत्व की अनुभूति नहीं होती है कि ये भिन्नपना है तब तक एकत्व में नहीं जाया जाता और जब तक एकत्वपना की अनुभूति नहीं होती तब तक अन्य का अन्य रूप में अनुभव नहीं होता है। इसलिए एकत्व भावना और अन्यत्व भावना दोनों को साथ-साथ ही रखा है।

महानुभाव! एकपने में कैसे आत्मा का बोध होता है और पर वस्तु के साथ व्यक्ति कैसे पर में घुल-मिल जाता है यह आपने दूध-शक्कर के उदाहरण से देखा। दूसरी बात बताते हैं–

एक बार महाराज नमि अपने महल में बैठे हुए थे, झरोखे के निकट बाहर देख रहे थे कि एक चील माँस का टुकड़ा अपने मुख में दबाये आकाश में उड़ रही है, उस चील के ऊपर अन्य चील झपट रही हैं उस माँस के टुकड़े को छीनने के लिये। जैसे ही पहली चील ने टुकड़ा छोड़ा तो तुरंत ही दूसरी चील ने उठाया, वह पहली चील अब निश्चिंत हो गई किन्तु अब अन्य सभी चील उस दूसरी चील को चोंच मारने लगी। ऐसे ही हमारी आत्मा से पृथक् जो भी परिग्रह यह आत्मा ग्रहण करती है तो अन्य आत्माएँ एवं कर्म उस पर झपट्टा मारते रहते हैं; किन्तु जो इस कर्म को या इस कर्म के फलस्वरूप परिग्रह को छोड़ देता है

उस पर कोई झपट्टा नहीं मारता। तो परिग्रह क्या है? बाहर से ग्रहण किया हुआ पुद्गल, और अकिंचन्य क्या है? बाहर के पदार्थों का परित्याग।

एकत्व भावना तभी आती है जब बाहर के पदार्थों का परित्याग कर दिया जाए, अकिंचन्य धर्म का चिंतवन किया जाए। महानुभाव! वही नमि महाराज उस दृश्य को देखकर के इस बोध को प्राप्त हुए कि परिग्रह-ही दु:ख की जननी है, पर-वस्तुएँ ही संसार की कारण हैं और इन सबको त्याग दिया जाए तब एकत्व अवस्था को प्राप्त हुआ जा सकता है। एक दिन पाप कर्म के उदय से वे नमि महाराज अस्वस्थ हो गये। अस्वस्थ होने पर वैद्य, डॉक्टर, हकीम, सयाने सभी लोग आये और उपचार करने का पूरा पुरुषार्थ किया किन्तु सफलता नहीं मिल रही थी। एक वयोवृद्ध वैद्य ने नाड़ीं देखी और कहा इन्हें तो बहुत तीव्र विषम ज्वर हो गया है, इनका शरीर अग्नि सा तप रहा है, इनका उपचार शीतल पदार्थों से ही संभव है, इनके पूरे शरीर पर चंदन का लेप कर दिया जाए। चंदन का लेप तैयार होने लगा। चंदन का लेप बनाने के लिए अन्य दासियों को आदेश दिया गया किंतु राजा नमि की जो सभी रानियाँ थी वे ऐसा मानती थीं कि हमारे पति हमारे प्राणों में बसते हैं और राजा नमि भी उन्हें अर्द्धांगिनी मानता था इसलिए रानियाँ स्वयं उस चंदन को घिसने में जुट गईं। किन्तु जब चंदन घिस रही थीं तब उनके हाथों की चूड़ियों की आवाज इतने जोरों से आ रही थी कि अस्वस्थ महाराज खेद खिन्न होने लगे, झुंझलाहट

होने लगी वे कहने लगे ये सब क्या शोर-गुल हो रहा है ये मुझसे सहन नहीं होता इसे बंद करो।

तभी सब सेवकों, मंत्रियों आदि ने निवदन किया महाराज आपका शरीर अस्वस्थ है, आपका शरीर गर्म तवे सा तप रहा है इसके लिये वैद्य जी ने चंदन के लेप का उपचार बताया है वह चंदन का लेप आपकी रानियाँ स्वयं अपने हाथों से घिस रही हैं उनके हाथों में पड़ी चूड़ियाँ बज रही हैं, कंगन आदि से टकरा रहीं हैं। राजा ने कहा–बंद करो, मुझे ये आवाज सहन नहीं होती, मुझे शांति चाहिए। सबने कहा ठीक है महाराज, जैसा आपका आदेश। रानियों को जैसे ही सेवक ने राजा का आदेश दिया, रानियों ने कहा–हम अपने पति का उपचार अवश्य करेंगे, हम इस काम को बंद नहीं कर सकते, आवाज न आए हम ऐसा प्रयास करते हैं। किवाड़ बंद करने पर भी आवाज आ रही थी। अब क्या करें? रानियों ने बुद्धिमत्ता से काम किया अपने हाथ की चूड़ियाँ निकालती चली गईं और दोनों हाथों में सौभाग्य की प्रतीक एक-एक चूड़ी धारण कर रखी और पुनः चंदन का लेप घिसने लगी। अब एक-एक चूड़ी रहने के कारण चूड़ी बजने की आवाज नहीं आ रही थी। दोनों अलग-अलग हाथों मे एक-एक चूड़ी है, दोनों के साथ कोई दूसरी चूड़ी नहीं है।

जब आवाज बंद हो गई तब राजा नमि ने पूछा-क्या हुआ? क्या वास्तव में मेरे आदेश का पालन किया गया है? और मेरे प्राणों की परवाह किये बिना ही चंदन का लेप

घिसना बंद कर दिया। रानियों को मेरे प्राणों की परवाह नहीं है क्या? नहीं महाराज! ऐसा नहीं है, आपके आदेश का पालन भी किया है कि आवाज नहीं आए किन्तु चंदन का लेप भी तैयार हो रहा है। राजा ने पूछा–फिर कैसे घिसा जा रहा है? अभी आप कह रहे थे कि रानी के हाथों की चूड़ियाँ बज रही हैं किंतु अब आवाज नहीं आ रही।

महाराज! रानियाँ ही चंदन घिस रही हैं किन्तु उन्होंने अपने हाथ से चूड़ियाँ उतार दी हैं। अरे! मेरे जीते जी सब चूड़ियाँ उतार दी। महाराज! ऐसा नहीं है सौभाग्य की प्रतीक एक-एक चूड़ी अभी भी उनके हाथों में है। एक-एक चूड़ी है इसलिए आवाज नहीं आ रही। राजा ने कहा– अच्छा! एक चूड़ी होती है तो आवाज नहीं आती है, सत्य है द्वन्द्व तो दो या दो से अधिक के मध्य होता है। एक के साथ तो द्वन्द कभी हो ही नहीं सकता। द्वन्द का कारण द्वित्वभाव है। यही तो संसार है। इसीलिए तो आचार्य कहते हैं कि एकत्व भावना का चिंतवन करो।

एकत्व को जानो, द्वित्व को नहीं। इस शरीर को तुमने जाना, अपनी शारीरिक अवस्था में आत्मा को जाना, शरीर सहित जाना अर्थात् द्वित्व को जाना, एक को जानो, अखण्ड को जानो। जो कभी दो हो ही नहीं सकता, तुम्हारी आत्मा एक है, अखण्ड है, शाश्वत है उसे ही जानना है।

ऐसी एकत्व भावना का चिंतन करने वाला ही सिद्धि को प्राप्त करने में समर्थ होता है। एकत्व भावना का पुनः पुनः चिंतन-मनन करने वाले नागदत्त मुनिराज जो पहले

एक राजपुत्र थे, पुनः जिनदीक्षा लेकर जिनकल्पी बने। एक समय वे वन में ध्यान के लिए बैठे। वहाँ डाकुओं का अड्डा था। उन डाकुओं ने सोचा कि ये हमारा भेद लोगों को बता देंगे अतः उन्हें मारने को उद्यत हुए। किन्तु तभी डाकुओं के सरदार जो मुनियों का स्वरूप जानते थे उन्होंने डाकुओं को रोक दिया और कहा कि इनसे भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है। ये समस्त सांसारिक पदार्थों, मोह-माया से दूर हैं। मुनिराज वहीं स्थिर रहकर तप करने लगे।

एक दिन नागदत्त मुनिराज की माता जो राजा की प्रमुख रानी थीं, अपनी कन्या एवं श्रेष्ठ वैभव और परिकर को लेकर दूसरे देश में जा रही थीं। वह रानी उस वन में प्रविष्ट हुई तो उसे मुनिराज के दर्शन हुए कहा हे साधो! आप यहाँ वन में तपस्यारत् हैं कृपया बताइए इस वन में कोई भय तो नहीं है। आपकी बहन और वैभव मेरे साथ है। एकत्व भावना से वासित चित्त वाले श्रेष्ठ मुनिवर मौनपूर्वक साधनारत् रहे। रानी मुनि को नमस्कार कर आगे वन में गमन कर जाती है और बीच में डाकुओं द्वारा पकड़ी जाती है। डाकू रानी, राजकुमारी व समस्त वैभव को डाकुओं के सरदार के पास ले आते हैं। यह सब देखकर सरदार बहुत खुश होता है और कहता है देखा! मैंने कहा था ना कि मुनिराज किसी से कुछ नहीं कहते। उन्होंने हमारे बारे में भी इन्हें कुछ नहीं बताया।

यह सुनकर रानी बहुत क्रोधित होती है व कहती है सरदार! मुझे अपनी छुरी दो, जिस कुक्षि से ऐसे कुपुत्र को

जन्म दिया है उस कुक्षि को चीर डालती हूँ, उसने मेरे उदर को अपवित्र किया है। यह सुनकर सरदार विस्मित होता हुआ कहता है कि आप उन महामुनिराज की माँ हैं एवं ये सुंदर कन्या उनकी बहन है। तब तो आप मेरे लिए पूज्य हो।

मुनिराज के निस्पृह भाव को जानकर सरदार भी विरक्ति को प्राप्त हो जाता है और कहता है कि माँ! तुम जगत्पूज्य हो, धन्य हो, तुम्हारी कुक्षि अत्यंत पावन है जिससे ऐसे धीर-वीर मुनिराज ने जन्म लिया। पुनः सभी को आदरपूर्वक उनके देश पहुँचा देता है और स्वयं व्रतों को स्वीकार करता है।

महानुभाव! एक-एक अनुप्रेक्षा भी माँ के समान संरक्षण करने वाली है। जिस प्रकार एक माँ अपनी संतान की रक्षा करती है उसी प्रकार ये अनुप्रेक्षाएँ यथार्थता से परिचय कराकर संसार की घाम-धूप से रक्षा करती हैं। एकत्व भावना बताती है कि संसार में कोई किसी का नहीं है। इस जीव को अकेले ही, स्वयं ही कर्मों का फल भोगना पड़ता है।

अभी जब आपसे आपका कोई परिचय पूछा जाता है तो आप इतना ही कहते हैं मैं अमुक हूँ। अपने शरीर का वह नाम लेते हैं जिसे माता-पिता ने रखा है। अपने आरोपित धर्म का नाम लेते हो, उस पर्याय विशेष का नाम लेते हो किन्तु ये तुम नहीं हो। तुम्हारी आत्मा क्या है? यह शरीर तो ज्यों का त्यों पड़ा रह जाता है, वह जो निकल जाती है आत्मा वह क्या है? वैज्ञानिकों ने पकड़ नहीं पाया, काँच

के जार में बंद किया तब भी पकड़ नहीं पाया। काँच में छेद नहीं हुआ आत्मा निकल गई, कैसे निकल गई? कहाँ से निकल गई? क्या चीज है वह आत्मा? लोग कहते हैं वह प्रकाशपुंज जैसी है।

महानुभाव! आत्मा एक अनुभूति है, आत्मा एक चिन्मयता है, चैतन्यता है, अनुभव है। जैसे घी में घी को छोड़कर के चिकनाई का क्या अस्तित्व? ऐसी कल्पना करो कि चिकनाई अकेली हो किन्तु घी न हो। उष्णता अकेली हो अग्नि न हो। अग्नि वास्तव में उस आत्मा की तरह है, अग्नि का कोयला देह की तरह से है, जो उष्णता है वही आत्मा है। घी देह की तरह से है जिसके सहारे से आत्मा दिखाई देती है किन्तु योगी इस आत्मा को देह से भिन्न अनुभव करते हैं और जब अनुभव करते हैं तभी आत्मा से मिल पाते हैं। उसी एकत्व भावना को आप सभी भी चिंतवन करो; जिससे आप भी कर्मों के बंधन से मुक्त हो सको, राग-द्वेष का नाश कर सको। आप भी अपने शाश्वत वैभव को प्राप्त कर सको। ऐसी भावना मैं आप सभी के प्रति भाता हूँ और अपनी शब्द शृंखला को विराम देता हूँ।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

एकत्व भावना संबंधित उपयोगी श्लोक व गाथाएँ

द्वन्द्वत्रयव्याप्तिषु सर्वकालमेकोऽयमात्मा स्वकृतोपभोगी।
आध्यात्मिकं बाह्यमिहापि वस्तु न किंचिदस्त्यत्र विचिन्तनीयम्।।

।।31/89।। –वरांग च., आ. जटासिंहनन्दि जी

लाभ–हानि, पुण्य–पाप, शुभ–अशुभ आदि द्वन्दों तथा तीनों लोकों व तीनों कालों में यह आत्मा सदा अकेला ही चक्कर मारता है, सदा ही अपने पूर्वकृत कर्मों के शुभाशुभ फलों को अकेले ही भरता है। जिन भावों आदि को आध्यात्मिक कहते हैं अथवा शरीर आदि समस्त बाह्य पदार्थ पुत्र–कलत्र आदि कोई भी इस आत्मा के साथी नहीं हैं। यह जीव सर्वदा अकेला ही है यही सब दृष्टिओं से विचारणीय है।

सहाया अस्य जायन्ते भोक्तुं वित्तानि केवलम्।
न तु सोदुं स्वकर्मोत्थां निर्दयां व्यसनावलीम्।।89।।

–ज्ञाना., आ. शुभचंद्र स्वामी जी

स्त्री–पुत्र आदि जो भी इस प्राणी के सहायक होते हैं वे केवल उसके द्वारा उपार्जित धन के भोगने में ही सहायक होते हैं, परन्तु उस धन के संचय में उसने जिस कर्म को उपार्जित किया है उससे उत्पन्न हुए क्रूर दु:खों के समूह के भोगने में उसमें से कोई भी सहायक नहीं होता है।

एक्कोहं णिम्ममो सुद्धो णाणदंसणलक्खणो।
सुद्धेयत्तमुपादेय मेवं चिंतेह संजदो।।20।।बा.अ.

–आ. कुंदकुंद स्वामी

मै अकेला हूँ, ममत्व से रहित हूँ, शुद्ध हूँ तथा ज्ञान-दर्शन लक्षण से युक्त हूँ इसलिए शुद्ध एकत्व भाव ही उपादेय है। (ग्रहण करने योग्य है)। इस प्रकार संयमी साधु को सदा विचार करते रहना चाहिए।

स्वजनो वा परो वापि नो कश्चित्परमार्थतः।
केवलं स्वार्जितं कर्म जीवनैकेन भुज्यते॥6/48॥

—प. पंच., आ. पद्मन्दि जी

कोई भी प्राणी वास्तव में न तो स्वजन (स्वकीय माता-पिता आदि) है और न पर भी है, जीव के द्वारा जो कर्म बांधा गया है उसको ही वह अकेला भोगने वाला है, इस प्रकार का चिन्तवन करना एकत्वभावना है।

इहलोगबंधवा ते णियमा परस्स होंति लोगस्स।
तह चेव धणं देहो संगा सयणासणादी य॥1746॥

—भ.आ., आ. शिवकोटि जी

जो इस लोक मे बान्धव हैं वे परलोक में बान्धव नहीं होंगे। इन्हीं की तरह धन, शरीर, शयन, आसन आदि परिग्रह भी इसी लोक में काम आते हैं परलोक में नहीं, यदि वे बान्धव और परिग्रह सदा रहने वाले हों तो उन्हें सहायक कहा जा सकता है, जब वे इसी जन्म में नष्ट हो जाते हैं तो वे परलोक में जाने पर साथ में जाएंगे इसकी आशा कैसी?

इक्को संचदि पुण्णं, इक्को भुञ्जेदि विविहसुर सोक्खं।
इक्को खवेदि कम्मं, इक्को वि य पावए मोक्खं॥76॥

—का.नु., आ. कार्तिकेय जी

एक ही जीव पुण्य को संचित करता है, एक ही जीव नाना प्रकार के देवगति के सुख भोगता है, वह ही एक

जीव कर्मों को नष्ट करता है और वही एक जीव मोक्ष को प्राप्त करता है।

स्वकीयं परकीयं न विद्यते भुवनत्रये।
नैकस्याटाट्य मानस्य परमाणोरिवांशिनः॥1837॥

—मरण कं./आ. अमितमति जी

जैसे परमाणु अन्य परमाणु या स्कंध आदि के संबंध बिना तीन लोक में सर्वत्र अकेला घूमता है वैसे ही तीन लोक में एकाकी परिभ्रमण करते हुए इस जीव के कोई नहीं है न अपना है न पराया है।

भवांतरं समं गत्वा धर्मो रत्नत्रयात्मकः।
उपकारं परं नित्यं पितेव कुरुतेऽङ्गिनः॥1838॥

—मरण कं./आ. अमितगति जी

रत्नत्रय रूप धर्म इस जीव के साथ परलोक में जाता है। यह रत्नत्रय धर्म पिता के समान इस जीव का नित्य ही उपकार करता है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई भी इस जीव का नहीं है।

एको दुःखमनारतं च कुगतौ पापोदयात्प्राणभृ-
देकः सौख्यमपारमद्भुततरं स्वर्गेऽत्र भुङ्क्ते शुभात्।
एको मोक्षमनन्तशर्मजलधिं कर्मक्षयाद्यात्यहो,
बुद्धवेत्याशु बुधा भजध्वमनिशं स्वात्मानमेकं विधेः॥15/45

—श्री पार्श्वः चरित्रम्, आ. सकलकीर्ति जी

पाप के उदय से यह प्राणी अकेला ही कुगति में निरन्तर दुःख भोगता है और पुण्योदय से स्वर्ग में अपार तथा आश्चर्यकारक सुख भोगता है तथा कर्मों के क्षय से अकेला ही अनन्त सुख के सागर स्वरूप मोक्ष को प्राप्त

होता है, ऐसा जानकर अहो विद्वज्जन हो! शीघ्र ही निरन्तर एक अपनी आत्मा की कर्म से पृथक् उपासना करो।

जणजूहं खग-पहिया, जह बहुवारं मिलंति तह जीवा।
सग-सगपयोजणेणं, गच्छंते सगदिं एक्का हु॥84॥

–अनुप्रेक्षा सार, आ. वसुनंदी मुनि

जिस प्रकार जनसमूह, पक्षी और पथिक आपस में बहुत मिलते हैं और पुनः अपने-अपने प्रयोजनानुसार चले जाते हैं उसी प्रकार ये जीव आपस में मिलकर पुनः अपनी गति में अकेले ही जाते हैं।

''जन्मजरामरणाऽऽवृत्तिमहादुःखानुभवनं प्रति सहायान- पेक्षत्वमेकत्वं।'' एक एवाऽहं न कश्चिन्मे स्वः परो वा विद्यते, एक एव जायत एक एवं म्रियते, न मे कश्चिज्जनः परजनों वा व्याधिजरामरणादीनि दुखान्यपहरित, बंधुमित्राणि श्मशानं नाऽतिवर्तन्ते धर्म एव मे सहायः सदाऽनपायीति चिन्तनमेकत्वाऽनुप्रेक्षा।''
–चारित्रसार/चामुंडराय जी कृत

''बार-बार होने वाले जन्म-जरा-मरणों के महादुःखों के अनुभव के लिए सहायता की अपेक्षा न रखना एकत्व है।'' इस संसार में मैं अकेला हूँ, स्व और पर मेरा कोई नहीं है, मैं अकेला ही जन्म लेता हूँ और अकेला ही मरता हूँ, स्वजन और परजन कोई भी मनुष्य मेरी व्याधियाँ, बुढ़ापा और मरण आदि के दुःखों को दूर नहीं कर सकता, बंधु, मित्र आदि श्मशान से आगे नहीं जा सकते, एक धर्म ही मेरा सहायक है और वही ऐसा है जो कभी नाश न होगा–इस प्रकार चिंतवन करना एकत्वानुप्रेक्षा है।

कस्यापत्यं पिता कस्य कस्याम्बा कस्य गेहिनी।
एक एव भवाम्भोधौ जीवो भ्रमति दुस्तरे॥6/34॥

–तत्वार्थसार (आ. अमृतचंद्र सूरि जी)

किसका कौन पुत्र और कौन किसका पिता? किसकी कौन माता और किसकी कौन स्त्री? दुस्तर संसारसमुद्र में जीव अकेला ही इधर से उधर भटकता है, इसलिए किसी को अपना समझना नितान्त भ्रम है।

जन्मजरामरणावृत्ति महादुःखानुभवनं प्रति एक एवाहं न कश्चिन्मे स्वः परो वा विद्यते। एक एव जाएऽहम्। एक एव म्रिये। न मे कश्चित् स्वजनः परजनो वा व्याधिजरामरणादीनि दुःखान्य पहरति। बन्धुमित्राणि श्मशानं नातिवर्तन्ते। धर्म एव मे सहायः सदा अनपायीति चिन्तनमेकत्वानुपेक्षा। –स.सि. (आ. पूज्यपाद स्वामी)

जन्म, जरा और मरण की आवृत्ति रूप महादुःख का अनुभवन करने के लिए अकेला मैं ही हूँ, न मेरा कोई स्व है न पर है, अकेला ही मैं जन्मता हूँ और अकेला ही मरता हूँ, कोई मेरा स्वजन या परजन, व्याधि, जरा और मरण आदि दुःखों को दूर नहीं करता। बंधु और मित्र श्मशान से आगे नहीं जाते। धर्म ही मेरा कभी साथ न छोड़ने वाला सदाकाल सहायक है। इस प्रकार का चिन्तवन करना एकत्वानुप्रेक्षा है।

एको जीवोऽत्र पापेन दुःखमग्नाति नित्यशः।
एक स्वर्गादिकं सौख्यं स्वपुण्य परिपाकतः॥10/55॥

रत्नत्रयं समासाद्य कोऽपि भव्यमतल्लिका।
कर्मक्षयं विधायोच्चैरेको यात्येव तत्पदम्॥110/57॥

–श्रीपाल च. (आ. सकलकीर्ति जी)

प्रत्येक जीव अकेला ही पाप के द्वारा नित्य दु:ख प्राप्त करता है एवं अकेला ही अपने पुण्य के उदय से स्वर्गादि के सुखों को भोगता है। भव्य जीव रत्नत्रय को धारण कर अकेला ही कर्म का क्षय कर सर्वोत्कृष्ट–शाश्वत पद को प्राप्त करता है।

सुयणो पिछन्तो वि हु ण दुक्खलेसंपि सक्कदे गहितुं।
एवं जायन्तो वि हु तो वि ममत्तं ण छंडेइ॥

–यशोधर च. (पुष्पदंत कवि)

स्वजन भी इस जीव में आते हुए दु:ख को देखता हुआ भी उसे किंचित् मात्र ग्रहण करने में समर्थ नहीं होता, ऐसा प्रकट रूप से जानता हुआ भी कुटुम्ब से ममत्व नहीं छोड़ता इस प्रकार चिन्तवन करना एकत्व भावना है।

एक एव भवभृत्प्रजायते मृत्युमेति पुनरेक एव तु।
धर्ममेक मपहाय नापरः सत्सहाय इति चैकता स्मृतिः॥63/82

–हरिवंश पु., आ. जिनसेन स्वामी जी

यह जीव अकेला ही उत्पन्न होता है और अकेला ही मृत्यु को प्राप्त होता है। एक धर्म को छोड़कर दूसरा इसका सहायक नहीं है। इस प्रकार से चिन्तवन करना एकत्व भावना है।

मंगल-गीत

जिणवरो मंगलं, मुणिवरो मंगलं
भत्तिसुह-मंगलं, सव्वदा मंगलं॥1॥

पावसंघादगं, पुण्ण-उप्पायगं
जिणवरदंसणं, सव्वसुह-दायगं॥2॥

भवभयहारगं, भुवदहि-तारगं
सिरिजिणदंसणं, अप्पगुण-पालगं॥3॥

अट्ठविहि-खंडगं, अट्ठगुण-वड्ढगं।
सिरिजिणदंसणं, सव्वदुह-णासगं॥4॥

छत्तत्तयमंडिदा, णाणजुद-पंडिदा।
घाइविहि-खंडगा, जोगत्तय-दंडगा॥5॥

जिणवराणं णमो, मुणिवराणं णमो
धम्मस्स णमो, आगमस्स णमो॥6॥

जयदु जिणसासणं, विस्सकल्लाणगं
सिक्खावदि जं सया, अप्प-अणुसासणं॥7॥

सिवसुहस्स विही, जेण वक्खाणिदा
जयदु जिणसासणं, वसुगुण-वड्ढगं॥8॥

5.

अन्यत्व अनुप्रेक्षा

चेतन तन से भिन्न जब, तब क्यों घर इक होए।
परिजन-पुरजन-मित्रजन, भिन्न लखों सब कोए॥
भिन्न लखों सब कोए, मित्र-अरि-सुत-तिय-भ्राता।
महल मकान क्षेत्र वाहन, अरु संपति दाता॥
कहें सूरि वसुनंदि, कर्मत्रय जानि निकेतन।
अन्य सभी अन्यत्व मानि तू प्यारे चेतन॥

जहाँ देह अपनी नही तहाँ न अपनो कोय
घर संपति पर प्रकट ये, पर है परिजन लोय

अन्यत्व अनुप्रेक्षा

महानुभाव!

एकत्व का अर्थ था एकपना; जो हमारी आत्मा का स्वभाव है किन्तु वह एकपना पूर्णरूप से तब तक समझ में नहीं आता जब तक अन्यत्व को हम समझ न लें। प्रत्येक वस्तु में एक ही समय में विरोधी धर्म पाये जाते हैं, जैसे कोई भी वस्तु स्वकीय चतुष्टय की अपेक्षा से अस्तित्वरूप है, वही वस्तु परकीय चतुष्टय की अपेक्षा से नास्तित्व रूप भी होती है। कथन दो प्रकार से किया जाता है, एक विधिपरक कथन, दूसरा निषेधपरक कथन। विधि परक जैसे–दिन से ही भोजन करना चाहिए, निषेध परक–रात्रि में भोजन नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार तुम्हें हिंसा नहीं करना चाहिए यह निषेध परक कथन और तुम्हें अहिंसा धर्म का पालन करना चाहिए यह विधि परक कथन है अथवा तुम्हें असत्य नहीं बोलना चाहिए, तुम्हे सदैव सत्य वचन बोलने चाहिए, चोरी नहीं करना चाहिए, अचौर्य व्रत का पालन करना चाहिए या अब्रह्म का सेवन नहीं करना चाहिए, ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना चाहिए, परिग्रह का संचय नहीं करना चाहिए, अपरिग्रही बनकर रहना चाहिए ये निषेध और विधि परक कथन हैं। दोनों कथन एक–दूसरे के पूरक होते हैं।

यहाँ पर आप अनुप्रेक्षाओं का चिंतवन कर रहे हैं–हमने देखा 'एकत्व भावना' मैं एकत्व स्वभाव से युक्त हूँ, मेरा अंश मात्र भी पर में नहीं है और पर का अंश मात्र भी

मुझमें नहीं है। पर मुझमें नहीं है यह निषेध परक हो गया, मैं मुझमें हूँ यह एकत्व भावना विधिपरक हो गई। इस बात को दो भागों में कह दिया एक एकत्व भावना, दूसरी अन्यत्व भावना।

अन्य क्या है? मेरी आत्मा के अतिरिक्त जो कुछ भी अन्य संसार में दिखता है या नहीं भी दिखता वह सब मेरी आत्मा से पृथक् है। आत्मा स्वभाव की अपेक्षा से अमूर्तिक द्रव्य है, विभाव की अपेक्षा से भी वह मूर्तिक कर्मबंध की अपेक्षा से होते हुए भी वहाँ दृष्टिगोचर नहीं होती। इतनी सूक्ष्म आत्मा की परिणति, उसका अस्तित्व है।

महानुभाव! संसारी प्राणी मोहनीय कर्म के वशीभूत होकर के, मिथ्यात्व के तीव्र उदय से जब उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है तो पर वस्तुओं में अपने आत्मा के अस्तित्व को खोजने लगता है और केवल खोजने ही नहीं लगता अपितु पर वस्तुओं में आत्मा-का अस्तित्व मानने लगता है। वह दुकान, मकान, फैक्ट्री, वाहन, नौकर-चाकर, रिश्तेदार, भाई-बंधु सबको कहता है ये मेरे हैं। ये सब हैं; किंतु व्यवहार में, वास्तव में नहीं क्योंकि ये सब आत्मा के नहीं हो सकते ये सब आत्मा से पृथक् हैं।

आदिपुराण ग्रंथ में आपने कुबेरप्रिय सेठ की कथा पढ़ी होगी। जब उस शीलवान् कुबेरप्रिय सेठ के शील पर दोष लगाया गया तब राजा ने उसे प्राणदंड दिया और उसे मारने के लिए चांडाल को सौंप दिया। चांडाल ने राजा की आज्ञानुसार जैसे ही तलवार का प्रहार सेठ के वक्षस्थल

पर किया वैसे ही वह मणियों का हार बन गया। सेठ के शीलव्रत का प्रभाव देख राजा ने भी उससे क्षमा माँगी। एक समय राजा गुणपाल ने प्रसन्न होकर सेठ से कहा आपको जो चाहिए वो माँग लो। तब सेठ ने कहा कि मैं जन्म-मरण का क्षय चाहता हूँ। यह सुनकर राजा बोला कि यह तो मैं तुम्हें नहीं दे सकता। तब सेठ ने कहा छोड़िए, ये तो मैं खुद ही सिद्ध कर लूँगा। तब राजा ने कहा कि तेरे साथ मैं भी घर छोड़ता; लेकिन मेरे पुत्र अभी छोटे हैं। इस प्रकार राजा विचार कर ही रहा था कि अचानक उसकी दृष्टि छिपकली के उन बच्चों पर पड़ी जो उसी समय अंडे से निकले थे, भूख से छटपटा रहे थे और इसलिए ही मक्खियाँ पकड़ने में तत्पर थे। उन्हें देख राजा सोचने लगा कि सभी जीव अपना उपाय खुद ही कर लेते हैं, उन्हें किसी की सलाह आदि की जरूरत नहीं। अतः अपने छोटे-छोटे पुत्रों की चिंता से मुझे क्या लाभ? ये पुत्र इत्यादि सब मुझसे अन्य हैं। यही विचार कर गुणपाल ने अपने पुत्र को राज्य दे दीक्षा धारण की।

यथार्थता यही है कि इस जीव का, इस आत्मा का कोई भी अपना नहीं है। इतना ही नहीं यह शरीर भी आत्मा का नहीं है क्योंकि दोनों अलग-अलग जाति के हैं। आत्मा की जाति है चिन्मय और शरीर की जाति है अचिन्मय। आत्मा ज्ञान-दर्शन चेतना से युक्त है और शरीर इस चेतना लक्षण के विपरीत लक्षण वाला अर्थात् अचेतन शक्ति से सहित है। अचेतन के माध्यम से जिन किन्हीं पदार्थों का निर्माण होता है, पर्यायों का जन्म होता है वे सभी पर्याय पुद्गल

की पर्यायें हैं। पुद्गल में ही उत्पन्न होती हैं, पुद्गल में ही विलीन होती हैं। जैसे आत्मा की पर्याय आत्मा में ही निष्पन्न होती है, आत्मा में ही समाविष्ट हो जाती है; आत्मा की पर्याय पुद्गल में नहीं है, पुद्गल की पर्याय आत्मा में नहीं है। आत्मा-आत्मा में है, पुद्गल-पुद्गल में है। आप पढ़ते हैं बारह भावना में-

जहाँ देह अपनी नहीं, तहाँ न अपना कोय।
घर सम्पत्ति पर प्रकट ये, पर है परिजन लोय॥

बड़ा स्थूल कथन किया। आप कहते हैं जब शरीर ही अपना नहीं है तो अपना और क्या हो सकता है? अर्थात् बाह्य प्रकट रूप से दिखने वाले मकान-दुकान-वस्त्राभूषण आदि मेरे कैसे हो सकते हैं या अन्य चेतन-अचेतन पदार्थ मेरे कैसे हो सकते हैं?

आचार्य भगवन् सकलकीर्ति जी महाराज ने मूलाचार प्रदीप ग्रंथ में अन्यत्व भावना का वर्णन करते हुए बहुत ही सुंदर कारिका कही-

यत्र देहात्पृथग्भूतो मृतः-साक्षात् विलोक्यते।
देही जडेतरैरस्तत्र किं स्वकीयः पृथग्जनः॥41॥ अधिकार 12

जहाँ मरने पर यह शरीर से साक्षात् भिन्न दिखाई देता है फिर भला जड़ और चैतन्यमय अन्य पदार्थ वा कुटुम्बी जन जो साक्षात् भिन्न दिखाई देते हैं वे इस आत्मा के कैसे हो सकते हैं॥

महानुभाव! यह मेरा है और मैं इसका; इस प्रकार के ममत्व भाव से जीव कर्मों से बंधता है और इस जगत् में

मेरा कोई नहीं है और न मैं किसी का हूँ इस प्रकार के निर्ममत्व भावों से आत्मा कर्मों से छूटता है। ये शरीरादि मुझसे भिन्न हैं, वास्तव में मैं इनसे भिन्न हूँ। संसार में कोई भी पदार्थ मेरे नहीं हैं और मैं किसी का नहीं हूँ। यद्यपि दूध-पानी के समान जीव और कर्म मिले हुए दिखाई दे रहे हैं परंतु वास्तव में ऐसा नहीं है। जिस प्रकार सरोवर में कमल जल से भिन्न खिलता है, सागर में रत्न भिन्न रूप से विद्यमान हैं, मोती सीप से भिन्न रूप है, उसी प्रकार अनादिकाल से यह जीव भी देह में भिन्न रूप से रहता है। इस प्रकार की अन्यत्व भावना का चिन्तवन करते रहना चाहिए।

महानुभाव! अनंत संसार में कर्म द्वारा परिभ्रमण करते जीवों का कौन किसका अपना हुआ है? कोई नहीं, व्यर्थ ही यह जीव, यह मेरा है इस प्रकार मानकर आसक्त हो रहा है। सभी जीव अपने सगे बन चुके हैं ऐसा कोई जीव नहीं जो अपना ना हुआ हो। सभी संयोग-वियोग समागम आदि कुछ ही समय का हुआ करता है यह सभी योनि, शरीर, परिवार आत्मा से पृथक् हैं। सभी जीव अपने-अपने कर्मानुसार प्राप्त हुई गतियों में चले जाते हैं। इस विचित्र संसार में नाना स्वभाव के लोग हैं, किसी की प्रकृति किसी से मिलती नहीं है। तत्त्व दृष्टि से देखा जाए तो किसको कौन प्रिय है? कोई भी प्रिय नहीं किन्तु अपने कार्य का उद्देश्य लेकर ये लोग संबंध स्थापित कर लेते हैं, उनका यह संबंध तो बालू की मुट्ठी के समान है, जैसे बालू के

कण पृथक् हैं जल आदि से मिल जाते हैं संबंध को प्राप्त होते हैं, किन्तु वह संबंध न स्वाभाविक है और न सदा रहने वाला; वैसे ही यह पुत्र-मित्र धनादि का संबंध न स्वाभाविक है, न सदा रहने वाला है।

महानुभाव! जैसे म्यान से तलवार पृथक् होती है वैसे ही आत्मा शरीर से अन्य है किन्तु मोह अंधकार से यह ज्ञान नेत्र ढके हुए हैं, जिससे कुछ दिखता ही नहीं। यह आत्मा अनादिनिधन है, शाश्वत है, कर्मों का कर्त्ता व कर्म फलों का भोक्ता है और शरीर इससे सर्वथा अन्य है, नाशवान् है, शाश्वत नहीं है।

महानुभाव! यहाँ पर अन्यत्व के संबंध में कह रहे हैं कि जो व्यक्ति कहता है कि चलो माना शरीर मेरा नहीं है किन्तु जो मैं हूँ वह तो मैं हूँ न? हाँ, जो तुम हो वह तुम हो; किंतु पहले ये जान लो कि आखिर तुम हो कौन? व्यक्ति कहता है यह मेरी भोजन सामग्री नहीं है, पर भूख तो मेरी है; किंतु हम कहना चाहते हैं कि न भोजन-सामग्री तुम्हारी है न भूख तुम्हारी है। लोग कहते हैं साता-असातावेदनीय कर्म के उदय से प्राप्त वस्तुएँ मेरी नहीं हैं किन्तु हम कहना चाहते हैं साता-असातावेदनीय कर्म भी अपना नहीं है। ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त होने वाला क्षयोपशम, वह उपलब्धि आपकी हो सकती हो ऐसा आप कहते हैं किन्तु सत्यता यह है कि क्षयोपशम भाव भी तुम्हारा नहीं है और वह कर्म भी तुम्हारा नहीं है। चाहे किसी भी कर्म का क्षयोपशम हो वह तुम्हारा नहीं।

कर्म तुम्हारा स्वभाव नहीं है यहाँ तक कि इन कर्मों को बाँधने वाला भाव कर्म भी तुम्हारा स्वभाव नहीं है। पृथक् दिखाई देने वाले, प्रत्यक्ष में दिखाई देने वाले कर्म, नोकर्म भी जब तुम्हारे नहीं हैं तो द्रव्य कर्म को बांधने वाला भावकर्म भी नहीं है, दोनों अलग हैं; किन्तु मिथ्यादृष्टि जीव की परिणति ऐसी हो जाती है कि वह मोहनीय कर्म के उदय से किस प्रकार भटकता है, आप पढ़ते भी हैं–

मोहरूप मृग तृष्णा जग में मिथ्या जल चमके,
मृग चेतन नित भ्रम में उठ-उठ दौड़े थक-थक के।
जल नहीं पावे प्राण गवावे भटक भटक मरता,
वस्तु परायी माने अपनी भेद नहीं करता।
तू चेतन अरु देह अचेतन यह जड़ तू ज्ञानी,
मिले अनादि यतन ते बिछुड़ें ज्यों पय अरु पानी॥

महानुभाव! यह आत्मा तो चैतन्यमय है शरीर आदि अचेतनमय है। जैसे कोई प्यासा मृग जल प्राप्ति के लिए नदी के किनारे दौड़ता है और दूर से खड़ा होकर देखता है सामने उसे मृग-मरीचिका दिखाई देती है, वह मृग-मरीचिका को जल मानकर के दौड़ता है। मृगमरीचिका का आशय होता है–नदी में विद्यमान धूल और बालू के कण सूर्य की किरणों से जब चमकते हैं तो पानी का आभास कराते हैं और मृग उसे प्राप्त करने के लिये दौड़ता है किन्तु वह वास्तव में पानी नहीं है; वह उसका भ्रम है। वह पानी जैसा दिखता है; किन्तु है नहीं, पानी जैसी चमक दिखती है; किन्तु है नहीं। ऐसे ही यह संसारी प्राणी संसार में

देखता है कि सुख-शांति है; इस वस्तु को प्राप्त करने से सुख मिलेगा, शांति मिलेगी; यह मेरी है-यह मेरी है किन्तु वास्तव में ऐसा है नहीं। जैसे किसी शराबी व्यक्ति की परिणति होती हो वैसी ही परिणति मोही व्यक्ति की होती है। शराबी व्यक्ति चौराहे पर खड़े होकर कहता है ये मेरी गाड़ी आ गई, वो भी मेरी गाड़ी आ गई, ऐसा कहते हुए बड़ा खुश होता है, हँसता है और जब वे गाड़ियाँ चली जाती हैं तो रोने लगता है; किन्तु वह गाड़ियाँ उसकी नहीं हैं। जैसे बच्चे खेल खेलते हैं–इस साइड से आने वाली सारी गाड़ी मेरी और दूसरी साइड से आने वाले तुम्हारी; जैसे वे गाड़ियाँ अपने समय से आ रही हैं जा रही हैं, वे गाड़ियाँ उन बच्चों की नहीं हैं। ऐसे ही बच्चों जैसा खेल बड़े लोग भी खेलते हैं कि मेरे पास इतने मकान-दुकान हो गये, अन्य-अन्य वस्तुएँ वैभव मेरा हो गया; किन्तु यह सब कुछ मेरा नहीं है, ये तो बच्चों जैसे खेल हैं।

मोह के आवेश में पर वस्तु प्राप्त करके मैं स्वयं को सम्राट समझता हूँ, राजा-महाराजा समझता हूँ; किन्तु यह सब मोह का प्रभाव है। मोहनीय कर्म का पर्दा जब विगलित होगा तब आत्मा के यथार्थ स्वरूप का भान हो सकेगा। दूध और पानी जैसे मिले हुए हैं वैसे हमारी आत्मा और देह भी मिली हुई है किन्तु फिर भी दूध-दूध है पानी-पानी है। दूध को पानी नहीं कह सकते और पानी को दूध नहीं कह सकते। कुछ देर के लिये दूध अपनी परिणति जल को दे देता है और दूध जब पानी में मिल जाता है तो पानी भी

दूध जैसा हो जाता है, किन्तु फिर भी ये कभी नहीं भूलना चाहिए कि पानी-पानी है दूध-दूध है। गर्म करने पर पानी जलता चला जाता है और दूध-दूध रह जाता है फिर वह दूध ठोस हो जाता है, मावा बन जाता है, ऐसे ही हम अपनी आत्मा में लगे अनादिकाल से संलग्न कर्मों को तपस्या के माध्यम से जलाते जाते हैं–जलाते जाते हैं तो कर्म जलते चले जाते हैं फिर शुद्ध घनीभूत हमारा आत्मा रह जाता है। हमारा शुद्ध स्वरूप रह जाता है। भावकर्म जलते हैं, द्रव्यकर्म जलते हैं, नोकर्म नष्ट हो जाता है, सब कुछ नष्ट हो जाता है, जो नष्ट नहीं होता है वही मेरी आत्मा है।

सिकंदर (Alexander) का नाम आप सभी ने सुना होगा। एक ऐसा युवा जो विश्व विजेता बनने के स्वप्न को साकार करने हेतु कई देशों को जीतकर भारत देश में आया। एक बार सिकंदर ने दरबारीगणों से कहा कि अब तो सब लोग मेरे सामने झुकते हैं, बताओ क्या कोई है जो मेरे सामने ना झुकता हो? तब सबने कहा, नहीं, ऐसा कोई नहीं है सम्राट। तब एक व्यक्ति बोला सम्राट ऐसा कोई है जो आपके सामने नहीं झुकता। सिकंदर ने क्रोध मिश्रित आश्चर्यभाव से पूछा–कौन है वो? वह जगत् वंदनीय दिगंबर साधु हैं उस व्यक्ति ने बताया। उस समय वहाँ आचार्य दौलामस ससंघ विराजमान थे। सिकंदर ने उन्हें बुलाने हेतु सैनिक भेजा। किन्तु आचार्य महाराज जब नहीं आए तो सिकंदर ने सोचा कि शायद कोई बहुत बड़े व्यक्ति हैं ऐसे नहीं आएँगे। अतः सिकंदर ने अपने मंत्री को रत्नों का थाल

लेकर भेजा; किन्तु इंद्रियजयी आचार्य महाराज संघ सहित निजचर्या में लीन थे। वह मंत्री भी राजा के उद्देश्य की पूर्ति न कर सका।

अबकी बार राजा स्वयं संघ के निकट पहुँचा। शीतऋतु में आचार्य महाराज शिला पर बैठे हुए थे। सिकंदर उनके अलौकिक दिव्य तेज को देख विस्मित रह गया। अचंभित था यह देखकर कि ये कौन हैं जिसके आगे आज उसे स्वयं का व्यक्तित्व भी बौना प्रतीत होने लगा।

पुनः पलक झपकाकर स्वयं अहंकार के पर्वत पर खड़ा होकर आचार्य महाराज के सामने पहुँचता है। आचार्य महाराज उसी प्रकार निश्चिंतता से बैठे हुए थे। उन्हें देखकर वह अभिमान में कहता है–क्या आप जानते नहीं, मैं कौन हूँ? सब लोग मेरे सामने झुकते हैं और आप....? आचार्य महाराज ने उत्तर दिया–तुम जो भी हो, हटो मेरे सामने से। तुम्हारे यहाँ खड़े होने से धूप रुक रही है। और जिस चीज को तुम दे नहीं सकते, उसे लेने का अधिकार तुम्हारा नहीं है।

सिकंदर उनकी निर्भीकता व साहस देखकर दंग था। सिकंदर ने कहा–क्या तुम्हें मुझसे डर नहीं लगता। तब आचार्य महाराज ने कहा–'तुमसे क्या डरना? सिकंदर क्रोध में तलवार निकालते हुए कहता है–'मैं तुम्हारे टुकड़े-टुकड़े कर दूँगा, तुम्हें मार डालूँगा।' आचार्य महाराज यह सुनकर मुस्कुराए और बोले ''तुम जिसे मारना चाहते हो, ये शरीर, वो मेरा है नहीं और जो मेरा है, मेरी आत्मा उसे तुम तो

क्या कोई नहीं मार सकता। वह आत्मा अखंड है, अजर-अमर-अविनाशी है।''

आचार्य महाराज की आध्यात्मिक वृत्ति के समक्ष भौतिक वैभव का सम्राट नतमस्तक हो गया; जीवन की यथार्थता को समझने का प्रयास करने लगा एवं अध्यात्म ज्ञान व मुनिचर्या से प्रभावित होकर उन आचार्य महाराज से अपने देश यूरोप की ओर चलने का निवेदन किया। कई बार अनुनय-विनय करने पर भी जब आचार्य महाराज ने यूरोप चलने की आज्ञा नहीं दी तो वह अन्य दिगंबर मुनि को भेजने का निवेदन करने लगा। कल्याण मुनि जिन्हें सिकंदर 'कोलामस' मुनि के नाम से संबोधित करता है वे उसके साथ चलने को तैयार हुए।

कुछ समय पश्चात् मार्ग में ही कल्याण मुनि ने उसे बताया कि उसकी आयु बहुत अल्प रह गयी है। यह सुनकर सिकंदर स्तब्ध सा रह गया और कहा मुनिवर, ये सब कुछ धन जो मैंने लूटा है, देशादि को जीता है, इन सबका क्या होगा? मुनि महाराज ने समझाया कि मृत्यु के पश्चात् कुछ भी साथ लेकर नहीं जा सकते। तब भी वह मुनिराज से कह रहा था महाराज! मैंने इतने देशों को जीतकर यह सब इकट्ठा किया है कुछ तो उपाय होगा? मुनिराज समझ गए कि ये ऐसे नहीं समझेगा। उन्होंने कुछ विचारकर कहा ठीक है मैं एक चिट्ठी लिखकर दे दूँगा, इसे तुम ऊपर दे देना, तुम्हें वहीं सब कुछ मिल जाएगा। स्वास्थ्य की गिरावट होने

से शीघ्र ही सिकंदर का अंतिम दिन भी आ गया। उसे जब अहसास हुआ कि उसके पास अधिक साँसें शेष नहीं हैं तब उसने वह चिट्ठी निकालकर अपने विश्वस्त को दी और बोला कि जब मैं जाने लगूँ तो ये मेरे साथ रख देना, ये मैं लेकर जाऊँगा। वह व्यक्ति आश्चर्य से सिकंदर को देखने लगा। सिकंदर ने पूछा क्या हुआ? वह व्यक्ति बोला सम्राट! ये चिट्ठी तो बहुत बड़ी है; कोई व्यक्ति एक सूई तक नहीं ले जा सकता। हर व्यक्ति को अकेले ही अपनी यात्रा तय करनी पड़ती है। न तो कोई कुछ लेकर आता है और न कुछ लेकर जाता है।

अब सिकंदर को मुनिराज की बात याद आयी। अपने उन कृत्यों पर उसे बहुत पछतावा हुआ; जिससे दूसरों को मात्र दु:ख ही दु:ख मिला। तब सिकंदर कहता है, सुनो! जब मेरा जनाजा निकाला जाए तब जितनी दौलत मैंने लूटी है वो सब मेरे जनाजे के साथ चले और हाँ! मेरे दोनों हाथ अर्थी से बाहर निकाल देना जिससे सब लोग समझ जाएँ कि कई देशों की दौलत लूटने वाला ये सिकंदर भी जब दुनिया छोड़कर गया तब उसका सब कुछ यहीं छूट गया।

चला जग से सिकंदर जब, सभी हाली हवाली थे।
पड़ी थी पास में दौलत, मगर दो हाथ खाली थे॥

महानुभाव! आत्मा के अतिरिक्त सब कुछ अन्य है। आत्मा का आत्मा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। न शरीर, न संबंधी, न धन और न दौलत।

आचार्यों ने कहा है–जब तक आप अन्यत्व को नहीं समझेंगे तब तक एकत्व भावना को समझना बड़ा कठिन है। मेरा स्वभाव है अकिंचन। आ. गुणभद्र स्वामी ने आत्मानुशासन ग्रंथ में कहा–

अकिंचनोऽहमित्या स्व, त्रैलोक्याधिपतिर्भवेः।
योगीगम्य तवप्रोक्तं, रहस्यं परमात्मनः॥110॥

योगियों द्वारा जो परमात्मपने को जानने का रहस्य है, वह क्या है? बस इतना ही है कि मैं अंकिचन हूँ, मैं तीन लोक का नाथ हो सकता हूँ। पर जब मैं अकिंचन हो जाऊँ तो तीन लोक का नाथ हो जाऊँगा, किंचित् भी ग्रहण कर लूँगा तो किंकर, भिक्षुक, याचक हो जाऊँगा।

जब तक मैं ग्रहण कर रहा हूँ तब तक दर-दर की ठोकर खा रहा हूँ, जब सब कुछ छोड़ दूँगा, सब कुछ क्या? जो मैंने बाहर से ग्रहण कर लिया है उसे छोड़ दूँगा, अंदर से जो कुछ मेरा है सो मेरा है उसे ग्रहण नहीं करना पड़ेगा और उसे छोड़ा भी नहीं जा सकता। बाहर से ग्रहण किये को जब छोड़ दूँगा तब यह आत्मा अपने शाश्वत दर अर्थात् सिद्धालय को प्राप्त कर पाएगी।

महानुभाव! बाहर की धमाचौकड़ी कूदने से कोई लाभ नहीं है। बाहर की वस्तुओं को दौड़कर प्राप्त किया जाता है और अपने अंतरंग की वस्तु को प्राप्त करने के लिये दौड़ना नहीं पड़ता, ठहरना पड़ता है। जहाँ हो वहीं ठहर जाओ। आत्मा की उपलब्धि कहाँ हो सकती हो? ढाई द्वीप में कहीं भी हो सकती है। ढाईद्वीप में विद्यमान कोई भी योगी अपनी आत्मा को प्राप्त कर सकता है। जब वह शुद्धोपयोग के

माध्यम से निर्विकल्प ध्यान में लीन, संलग्न होता है तब आत्मा को उपलब्ध होता है। आत्मा को उपलब्ध करने के लिये कोई स्थान विशेष की आवश्यकता नहीं है। आत्मा को उपलब्ध करने के लिये कोई काल विशेष की आवश्यकता नहीं है, आत्मा को उपलब्ध करने के लिये किसी निमित्त विशेष की आवश्यकता नहीं है, हाँ इतना अवश्य है कि आत्मा को वही उपलब्ध कर पाते हैं जो आत्मा को प्राप्त करने की भावना भाते हैं।

चारगति चौरासी लाख योनियों में सिर्फ एक मनुष्यगति ही ऐसी है जिसमें सकल संयम को प्राप्त किया जा सकता है और निर्विकल्प ध्यान को प्राप्त किया जा सकता है। इसके अभाव होने पर आत्मा के स्वरूप को न तो जाना जा सकता है, न उसे प्राप्त किया जा सकता है।

महानुभाव! ये जो धमाचौकड़ी आप कूद रहे हैं, बाहर की वस्तुओं को इकट्ठा करने के लिये दिन-रात परिश्रम कर रहे हैं। बाहर का परिग्रह संचय करने के लिये आप परिचय और परिग्रह बढ़ाते चले जा रहे हैं, आत्मिक सुख-शांति की चाह में; किन्तु ये मिथ्या दौड़ है, जैसे उस मृग को नदी किनारे पर दौड़ लगाने पर पानी नहीं मिलता, प्यास नहीं बुझती ऐसे ही यह संसारी प्राणी मोह के आगोश में पड़ा हुआ सुख-शांति को प्राप्त नहीं कर पाता। उसे लगता है, ऐसा दिखता है कि सुख-शांति मिलेगी किंतु ऐसा होता नहीं।

''दर्पण में मुख और संसार में सुख दिखता है पर है नहीं।''

संसार में कई वस्तुएँ ऐसी हैं जो मात्र दिखती हैं किन्तु वैसी हैं नहीं। यदि पंखा चल रहा है तुम्हें लगता है जैसे कोई गोल चक्र है किन्तु वहाँ गोल चक्र है नहीं और जो है, पंखे में तीन पाँखुड़ी वे पंखा चलते समय दिखाई नहीं देती। ऐसे ही जो आत्मा का स्वभाव है वह हमें दिखाई दे नहीं रहा है और जो अभी दिखाई दे रहा है वह हमारी आत्मा का स्वभाव नहीं है। संसार जैसा है वैसा दिख नहीं रहा, जो दिख रहा है वैसा है नहीं। आकाश में इन्द्रधनुष दिखाई देता है, वहाँ कोई धनुष नहीं है केवल पानी आकाश में ठहरा हुआ है, सूर्य की किरणें उसके मध्य से निकलती हैं तो उसका कलर अलग हो जाता है सतरंगी धनुष दिखाई देता है, कोई उसे इंद्रधनुष कहता है, ऐसे ही संसार में जो दिख रहा है वैसा है नहीं।

आचार्य भगवन् श्री कुन्दकुन्द स्वामी जी कहते हैं कि भाई! न तो तू प्रमादी है न अप्रमादी है। ''ण पमत्तो ण अपमत्तो'' तू व्रती भी नहीं है अव्रती भी नहीं है। तू ज्ञानी भी नहीं है अज्ञानी भी नहीं है, तू संयमी भी नहीं है असंयमी भी नहीं है, ध्यानी भी नहीं है अध्यानी भी नहीं है, कर्म कालिमा से रहित भी नहीं है सहित भी नहीं है, तू बंधक भी नहीं है अबंधक भी नहीं है; ये सब तो वैभाविक परिणाम हैं। तू तो स्वभाव की अपेक्षा, शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से परमात्मा है।

'जो हू सो हू चेव' तू वही है जो है। वह शब्दों से अतीत है तू शब्द-अक्षरों से परे है, वचनों से परे है, तुझे वचनों से नहीं कहा जा सकता। तू इन्द्रिय अगोचर है एवं मन की पकड़ में भी नहीं आ सकता। आत्मा ऐसा द्रव्य है उसे पकड़ नहीं सकते। पुद्गल की कई वस्तुएँ ऐसी होती है, जिन्हें पकड़ना असंभव होता है। आत्मा तो चैतन्य है उसे पकड़ना बड़ा कठिन है। क्षायोपशमिक भाव रूप इन्द्रियों से या पौद्गलिक रूप इन्द्रियों से उस चेतना को कैसे पकड़ा जा सकता है। आत्मा का अनुभव तो सिर्फ आत्मा ही कर सकती है अन्य कोई नहीं कर सकता। उसके बारे में इंद्रिय व अनिन्द्रिय ज्ञान से अनुमान लगाया जाता है।

महानुभाव! आचार्य अमृतचन्द्रस्वामी जी ने कहा–

विरमं? किमपरेणाऽकार्यकोलाहलेन-
स्वयमपि निभृतःसन् पश्य षण्मास मेकम्।
हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद् भिन्नधाम्नो,
ननु किमनुपलब्धिर्भाति किं चोपलब्धिः॥34॥

विरम-विराम लो। **किं परेणकार्यकोलाहलेण**–अरे! दूसरों के द्वारा यह कोलाहल उत्पन्न किया जा रहा है, इससे तेरा क्या कार्य सिद्ध होने वाला है। ये कोलाहल तो अनादिकाल से चल रहा है, चलता रहेगा; तेरा इससे कुछ भी सिद्ध होने वाला नहीं है और जब तक पात्र में पानी उबल रहा है तब तक उसमें अपना चेहरा नहीं देखा जा सकता। तू भी दौड़ता चला जाएगा, दौड़ता चला जाएगा तो दौड़ता-दौड़ता व्यक्ति हाथ में शीशा लेकर के दोड़े तो

दौड़ते-दौड़ते अपने चित्र को नहीं देख सकता उसे ठहरना पड़ेगा। हमें भी अपनी आत्मा को अपनी आत्मा में देखना है तो बाहर से ठहरना पड़ेगा। तीनों योगों की प्रवृत्ति को मंद और मंदतम करना पड़ेगा। पहले मंद करते जाएँ बाद में प्रवृत्ति बंद हो जाएगी।

तो महानुभाव! स्वयं ही अपने आप में खाली हो जाओ, बाहर के विचारों से, बाहर के वचनालापों से, बाहर की क्रियाओं से। आचार्य महाराज कह रहे हैं छः माह मेरे पास बैठ और अपने शरीर को पड़ौसी मान ले फिर तू अपनी आत्मा का अनुभव कर। पुद्गल से भिन्न अपनी आत्मा को देख, छः माह तक अभ्यास कर। इससे क्या होगा? इससे तुम्हें ऐसी उपलब्धि प्राप्त होगी, जिस उपलब्धि को तुमने आज तक प्राप्त नहीं किया होगा। वह उपलब्धि आत्मा में, आत्मा के लिए, आत्मा के द्वारा, आत्मा से होगी। वह पुद्गल के माध्यम से नहीं हो सकती। उस उपलब्धि को प्राप्त करने के लिए अकिंचन्य भाव को जानना बहुत जरूरी है। उस उपलब्धि को प्राप्त करने के लिए बहुत आवश्यक है हम पर से भिन्न अपने आप को अनुभव करें। व्यवहार क्रियायें निश्चय तक पहुँचने में साधन हो सकती हैं किन्तु व्यवहार कभी निश्चय नहीं होता। निश्चय-निश्चय होता है व्यवहार-व्यवहार होता है। व्यवहार एक पगडंडी है जो राजमार्ग तक ले जाती है और राजमार्ग-राजमार्ग है वह पगडंडी नहीं है। पगडंडी पर पैदल (पदयात्री) व साइकिल चलती है पगडंडी पर बस नहीं चलती। इसी तरह से हम

भी आध्यात्मिक रहस्यों को तभी प्राप्त कर पायेंगे जब व्यवहार की क्रियाओं से ऊपर उठ जाएंगे। जो व्यवहार की क्रियाओं को ग्रहण नहीं करता वह भी आध्यात्मिकता में नहीं पहुँच सकता, और जो व्यवहार क्रियाओं में डूबा रहता है वह भी आध्यात्मिकता में नहीं पहुँच सकता। व्यवहार की क्रियाओं के ऊपर उठ जाएँगे तभी आध्यात्मिकता का आनंद ले पाएँगे। वह आध्यात्मिकता का आनंद लेना ही अन्यत्व भावना का काम है। आप सभी उसका मुहुर-मुहुर चिंतवन करें तभी वह स्वभाव आपको प्राप्त होगा। आप सभी उसे प्राप्त करने का सम्यक् पुरुषार्थ करें। इसी भावना के साथ-

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

अन्यत्व भावना संबंधित उपयोगी श्लोक व गाथाएँ

देहात्मनो भेदविकल्पनायां संज्ञादिभेदं स्फुटमन्यथात्वम्।
विद्वानयैकं कथमत्र कुर्यात्संगं पुमान्भङ्गिनि कः शरीरे॥31/90॥

—वरांग च., आ. जटासिंहनन्दि जी

जब शरीर तथा आत्मा के स्वरूप तथा गुणों को अलग-अलग करके देखने लगते हैं तो इनका अन्यत्व स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि इनके नाम ही अलग नहीं हैं गुणों और स्वभाव का भेद तो इनसे भी अधिक स्पष्ट है। जो विवेकी है वह इन दोनों में ऐक्य कैसे कर सकता है? क्योंकि कहाँ तो नित्य आत्मा और कहाँ क्षणभंगुर शरीर।

मूर्तैर्विचेतनैश्चित्रैः स्वतन्त्रैः परमाणुभिः।
यद्वपुर्विहितं तेन कः सम्बन्धस्तदात्मनः॥99॥

—ज्ञाना., आ. शुभचंद्र स्वामी जी

जो शरीर मूर्त और अचेतन अनेक प्रकार के स्वतन्त्र परमाणुओं के द्वारा रचा गया है उसके साथ भला उस चेतन और अमूर्त आत्मा का क्या संबंध है? कुछ भी नहीं—स्वभाव भेद के कारण वे दोनों कभी भी एक नहीं हो सकते।

माता पिदर सहोदर पुत्तकलत्तादि बन्धुसंदोहो।
जीवस्स ण संबंधो णियकज्ज वसेण वट्टंति॥ 21॥ बा. अ.
आ. कुंदकुंद स्वामी जी

माता, पिता, सगा भाई, पुत्र, तथा स्त्री आदि बंधुजन-इष्ट

जनों का समूह जीव से संबंध रखने वाला नहीं है, ये सब अपने कार्य के वश साथ देते हैं।

क्षीरनीरवदेकत्र स्थितयोर्देहदेहिनोः!
भेदो यदि ततोऽन्येषु कलत्रादिषु का कथा॥ 6/49॥

–प.पंच., आ. पद्मनन्दिजी

जब दूध और पानी के समान एक ही स्थान मे रहने वाले शरीर और जीव में भी भेद है तब प्रत्यक्ष में ही अपने से भिन्न दिखने वाले स्त्री-पुत्र आदि के विषय मे भला क्या कहा जावे? अर्थात् ये तो जीव से भिन्न हैं ही, इस प्रकार का विचार करना अन्यत्व भावना है।

रत्तिं रत्तिं रुक्खे रुक्खे जह सउणयाण संगमणं।
जादीए जादीए जणस्स तह संगमो होई॥1752॥

–भ.आ., आ. शिवकोटि जी

जैसे प्रत्येक रात्रि में प्रत्येक वृक्ष पर पक्षियों का संगम होता है उसी प्रकार जन्म-जन्म मे मनुष्यों का संगम होता है।

जो जाणिऊण देहं जीव सरुवादु तच्चदो भिण्णं।
अप्पाणं पि य सेवादि कज्जकरं तस्स अण्णत्तं॥82॥

–का.नु., आ. कार्तिकेय जी

जो जीव अपने स्वरूप से देह को परमार्थ से भिन्न जानकर आत्मस्वरूप को सेवता है, ध्यान करता है उसके अन्यत्व भावना कार्यकारी होती है।

आत्मानंदर्शनज्ञान व्रत्तादिगुणभाजनम्।
मुक्त्वा किंचिन्न वस्तुस्यात्स्वकीयं भुवनत्रये॥44॥

इत्यन्यत्वं विदित्वा स्वंदेहादेस्तत्त्ववेदिनः।
पृथक् कृत्यां गतोऽभ्यन्तरे-ध्यायन्तुस्वचिन्मयम्॥45॥

—मूला. प्रदीप, आ. सकलकीर्ति जी

इन तीनों लोकों में रत्नत्रय रूप गुणों से सुशोभित अपने आत्मा को छोड़कर बाकी का और कोई पदार्थ अपना नहीं है। तत्त्वों को जानने वाले पुरुषों को इस प्रकार अपने अंतरंग में ही शरीर से भिन्न समझते हुए, उसका ध्यान करना चाहिए।

कूवम्मि णीरं जहा, होज्जा कूवादो अण्णरूवो हि।
जीवो देहम्मि जहा, भिण्ण-जादि-रूवो ठादि खलु॥89॥

—अणुवेक्खा सारो, आ. वसुनंदी मुनि

जिस प्रकार कुएँ में नीर कुएँ से अन्यरूप ही होता है उसी प्रकार देह में जीव निश्चय से भिन्न जाति रूप ही ठहरता है।

अप्पा णेव पमत्तो, ण अपमत्तो जो हु सो हु सो चेव।
जो चिंतदि अण्णत्तं, सक्कदे एयत्तं लहिदुं॥108॥

—अणु. सारो, आ. वसुनंदि मुनि

आत्मा न प्रमत्त है न अप्रमत्त, निश्चय से जो है सो है वह वही ही है। जो जीव अन्यत्व का चिंतन करता है वह ही एकत्व को प्राप्त करने में समर्थ होता है।

अन्यत्कायमसारवस्तुनिचितं सर्वं कुटुम्बं स्वतो,
राज्यं चेन्द्रियशर्म पूर्वविधिज रागादिदोषव्रजः।

ज्ञात्वेतीह चिदेकमूर्तिमसमं भिन्नं स्वदेहादित-श्चात्मानं शिवसिद्धयेऽतिनिपुणा यत्नाद्भजध्वं हृदि॥15/54॥

–श्री पार्श्वनाथ चरित्रम्–आ. सकलकीर्ति जी

नि:सार वस्तुओं से भरा हुआ शरीर समस्त कुटुम्ब, राज्य, पूर्व कर्म से उत्पन्न हुआ इन्द्रिय सुख तथा रागादि दोषों का समूह अपने आपसे अन्य है–पृथक् है ऐसा जानकर हे चतुरजन! इस जगत् में एक चैतन्य मूर्ति, अनुपम तथा अपने शरीरादि से भिन्न आत्मा का मोक्ष सिद्धि के लिए हृदय में यत्नपूर्वक भजन करो।

''किमंग पुनर्बाह्यभ्यः परिग्रहेभ्यः इति चिन्तनमन्यत्वानुप्रेक्षा।''

–चारित्रसार, चामुंडराय जी कृत

हे अंग (हे जीव) यह मेरी आत्मा शरीर से भी भिन्न है, फिर धन-धान्य आदि बाह्य परिग्रहों की तो बात ही क्या है अर्थात् उनसे तो भिन्न है ही। इस प्रकार चिंतवन करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है।

''आत्मान्योंऽगकुटुम्ब कर्म सकलोऽज्ञानी प्रकृत्याः महान्॥''

– 5/106

–श्री मल्लिनाथ पु., आ. सकलकीर्ति स्वामी

आत्मा से भिन्न शरीर कुटुम्ब और समस्त कर्म स्वभाव से ही महाअज्ञानी है, इस प्रकार से चिन्तवन करना अन्यत्व भावना होती है।

शरीरादन्यत्वचिन्तनमन्यत्वानुप्रेक्षा।

–स.सि, आ. पूज्यपाद स्वामी

शरीर से अन्यत्व चिन्तवन करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है।

अन्यः सचेतनो जीवो वपुरन्यदचेतनम्।
हा तथापि न मन्यन्ते नानात्वमनयोर्जनाः॥6/35॥

–तत्त्वार्थसार, आ. अमृतचंद्र सूरि

जीव अन्य है और शरीर अन्य है। जीव का चैतन्य लक्षण है और शरीर का जड़ता लक्षण है, इन लक्षणों से दोनों जुदे-जुदे अनुभव में आ सकते हैं तो भी, बड़ा खेद है कि मनुष्य शरीर को अपने से जुदा नहीं मानते हैं। जब दोनों ही भिन्न-भिन्न हैं तो इस शरीर को अपनाना बड़ी भूल है। जैसे शरीर भिन्न है वैसे ही पुत्र, धन, धान्यादिक प्रत्यक्ष ही भिन्न हैं।

अन्यो जीवो यमत्युच्चै सर्वत्र मिलितोऽपि च।
नीचोच्च सर्वदेहेषु पाषाण स्थित हेमवत्॥10/58॥
स्व शक्त्या चेति जानीते भव्यात्मा जिनभाषितम्।
संसाराम्बुधिमुत्तीर्य स प्रयाति शिवास्पदम्॥10/59॥
अन्यत्वं चात्मनो नित्यं ततो भव्यैर्जिनोत्तमैः।
सावधानैर्विरागेण चिन्तनीयं स्व चेतसि॥10/60॥

–श्रीपाल चरित्र, आ. सकलकीर्ति स्वामी

जिस प्रकार खान में पड़ा किट्टिकालिमा से युक्त स्वर्ण भी अपने स्वभाव को नहीं त्यागता अर्थात् उस (पाषाणादि) से भिन्न रहता है, उसी प्रकार नीच-उच्च कुलों में प्राप्त विभिन्न शरीरों में घुल-मिलकर भी यह जीव उनसे अन्य (भिन्न) रहता है। जो भव्यात्मा जिन कथित इस तथ्य को स्वशक्ति अनुसार जान लेता है वह संसार समुद्र को पारकर

मोक्षपद को प्राप्त करता है। इसलिए, भव्य प्राणियों को निरन्तर सावधानी से वैराग्य भाव के द्वारा आत्मा के अन्यत्व स्वभाव का चिन्तवन करना चाहिए।

अण्णं देहं गिह्णदि जणणी अण्णा य होदि कम्मादो।
अण्णं होदि कलत्तं अण्णो वि य जायदे पुत्तो॥

—यशोधर चरित्र, पुष्पदंत कवि

यह जीव संसार में जिस शरीर को ग्रहण करता है वह अन्य है, माता भी कर्मयोग से अन्य है, स्त्री है वह अन्य है और प्रकटरूप से पुत्र है वह भी अन्य है।

नित्यता मम तनोरनित्यता चेतनोऽहमपचेतना तनुः।
अन्यतामम शरीरतोऽपि यत्तत्किमङ्ग! पुनरन्यवस्तुनः॥63/83

—हरिवंश पुराण, आ. जिनसेन स्वामी

मैं नित्य हूँ और शरीर अनित्य है, मैं चेतन हूँ और शरीर अचेतन है। जब शरीर से भी मुझमें भिन्नता है तब दूसरी वस्तुओं से भिन्नता क्यों नहीं होगी?

6.

अशुचि अनुप्रेक्षा

अस्थि चर्म पल रुधिर रस, मज्जा मेदा जान।
वात-पित्त-कफ-वीर्य-मल, मूत्र पुरिस की खान॥
मूत्र पुरिस की खान, सदा मलद्वार बहें नौ।
देह अशुचि घिनकार, प्रीति यासूँ करता क्यों॥
कहें सूरि वसुनंदि अशुचिता की तन बस्ति।
नीर-क्षीर तन धोय, शुद्ध नहि होय अस्थि॥

दिप चाम चादर मढी, हाड़ पीजरा देह
भीतर या सम जगत में, ओर नही घिन गेह

अशुचि अनुप्रेक्षा

महानुभाव!

अनुप्रेक्षा अर्थात् आत्मा का अवलोकन। आत्मा की वा मन-वचन-काय की प्रवृत्ति का अवलोकन अथवा ये भावनाएँ संसार-शरीर व भोगों का यथार्थ दिग्दर्शन कराने वाली हैं। कैसा है संसार, कैसे हैं भोग, कैसी हैं संसार की पर्यायें, कैसी है आत्मा और कैसा है ये शरीर? अशुचि भावना मुख्य रूप से शरीर के संबंध में चिंतवन करने की एक पगडंडी प्रस्तुत करती है।

इस अशुचिभावना की पगडंडी पर ज्यों-ज्यों वह भव्य श्रावक व श्रमण चिंतन की धारा से आगे बढ़ता है तब उसके अंतरंग में शरीर का यथार्थ स्वरूप अनुभव में आने लगता है। प्रत्येक पदार्थ का अलग-अलग स्वरूप है। किसी का भी स्वरूप अन्य स्वरूप से मेल नहीं खाता। यदि जीव का स्वरूप चेतना है तो वह पृथक् है, पुदगल का स्वरूप पृथक् है, धर्म-अधर्म, आकाश, कालद्रव्य का स्वरूप भी पृथक्-पृथक् है। सभी द्रव्य अपना अस्तित्व अलग-अलग बनाये रखते हैं। संसार में अनंतानंत जीव हैं प्रत्येक जीव का स्वभाव और विभाव उसके पास ही है किसी का स्वभाव उससे अलग नहीं जाता और किसी का विभाव भी उससे अलग होकर किसी दूसरे के पास नहीं पहुँच जाता।

अशुचि शब्द स्वयं में यह ध्वनित कर रहा है **''न शुचिर्भावं अशुचिः''** जिसमें शुचिता का भाव नहीं है वह

अशुचि है। शुचिता कहिए तो पवित्रता। पवित्रता कब आती है? पवित्रता आती है मल के निष्कासित हो जाने पर। पुद्गल-जीव ये दो द्रव्य ऐसे हैं जो मल को ग्रहण करते हैं। चार द्रव्य ऐसे हैं जो स्वभावतः अनादिकाल से शुद्ध हैं; धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, कालद्रव्य; किन्तु जीव और पुद्गल दोनों एक-दूसरे के साथ सहवर्तन करते हैं; इसलिए एक दूसरे पर, एक दूसरे की परछाई पड़ती है और परछाई पड़ने से उसके स्वभाव में कुछ विकारपना आ जाता है। जीव के निमित्त से पुद्गल की पर्यायों में विकारपना आ जाता है तो पुद्गल के निमित्त से जीव की परिणति में विकारपना आ जाता है। यह विकारपना ही अशुचिता है, पंकता, मलिनता, कल्मष, कालिमा है। ये व्यवस्था आज से नहीं, कल से नहीं अपितु अनादिकाल से चली आ रही है।

क्या ऐसा कोई कर्म है जो अनादिकाल से चला आए? कर्म के प्रदेश अनादिकालीन नहीं है, किन्तु कर्म की प्रकृतियाँ अनादिकालीन हैं। वे प्रदेश तो बार-बार निर्जीण हो जाते हैं किन्तु वे प्रकृतियाँ कभी निर्जीण नहीं होती। जैसे किसी भी देश/प्रान्त में राष्ट्रपति या राज्यपाल होता है अथवा प्रधानमंत्री होता है किंतु हमेशा कोई एक ही व्यक्ति नहीं होता, क्रम-क्रम से वे बदलते रहते हैं किन्तु हाँ वह पद दीर्घकालीन हो सकता है। वह पद नहीं बदला, पदाधिकारी बदल गये। ऐसे ही हमारी आत्मा में बंधे हुए वे कर्म हैं, उन कर्मों के प्रदेश तो निर्जीण होते चले जा रहे हैं, और नूतन प्रदेशों का बंध होता चला जा रहा है किन्तु अभाव

नहीं हुआ, कर्म की किसी भी प्रकृति को हम निर्जीण नहीं कर पाये।

महानुभाव! ऐसे ही हमारी आत्मा में अनादिकाल से अशुचिपना आ गया है। वह अशुचिपना हमें भला दिखाई देता है। धोखे से कई बार ऐसा हो जाता है कि हम बुरे व्यक्ति को अच्छा मान लेते हैं और उस बुरे व्यक्ति के साथ अच्छा व्यवहार करने लगते हैं, तो वह बुरा व्यक्ति हमारे साथ और भी ज्यादा बुरा करने लग जाता है। यदि हम बुरे को एक बार बुरा मान लें और बुरे से सावधान रहें तो बुरा हमारे साथ उतना बुरा नहीं कर सकता जितना हमारे भोलेपन में कर सकता है क्योंकि चोरों से व्यक्ति सावधान रहता है, चोर से सावधान रहने पर चोर उतनी चोरी नहीं कर पाएगा किन्तु चोर को मित्र मान लेगा तो चोर सब कुछ लूट सकता है।

इसी प्रकार हमने अनादिकाल से कर्मों को भला मान लिया, इसलिए वे कर्म हमारा सर्वस्व लूट रहे है। यदि कर्मों को शत्रु मान लिया होता तो कर्म हमारा बालबांका नहीं कर पाते। महानुभाव! ये कर्म ही हमारी आत्मा में अशुद्धि फैलाने वाले हैं। हम मान लेते हैं कि पापकर्म से बच जाओ पुण्य कर्म में लग जाओ किन्तु पुण्य भी कर्म है, पाप भी कर्म है, दोनों ही कर्म हैं और दोनों का फल आत्मा के लिए उपादेयभूत नहीं है। यह बात अति सूक्ष्म बातें हो गईं किन्तु इसके पहले स्थूल बात की चर्चा कर लें।

यह शरीर आदि परिग्रह है, इसमें भी व्यक्ति का रागभाव, रतिभाव, मोह होता है। वह सदैव शरीर को स्वच्छ करने

में, हृष्ट-पुष्ट बनाने में अपना पूरा समय व जीवन व्यतीत कर देता है। शरीर पुद्गल है, था, रहेगा। आत्मा-आत्मा थी, है, रहेगी। आत्मा कभी पुद्गल नहीं हुआ, पुद्गल कभी आत्मा नहीं हुई, किन्तु इस आत्मा की नासमझी तो समझो; इस पुद्गल की सेवा में अनादिकाल से लगी है और अपने भाव को भूल बैठी है। यह शरीर कभी भी शुचिरूप नहीं हो सकता, पवित्र नहीं हो सकता। क्यों? क्योंकि यह शरीर अपवित्र पदार्थों से बना है। शरीर का निर्माण ही सप्त धातु-उपधातु के माध्यम से होता है। शरीर के मूल बीज माता-पिता के सप्तमधातु रजवीर्य के माध्यम से उस शरीर का निर्माण होता है। जब वही मूल धातु अपवित्र हो तो शरीर चाहे छोटा हो या बड़ा हो वह पवित्र कैसे हो सकता है। इसे चाहे कितना ही नहलाओ, धुलाओ, अच्छे-अच्छे वस्त्र पहनाओ, आभूषण पहनाओ, कुछ भी करो किन्तु फिर भी यह शरीर पवित्र नहीं हो सकता।

जैसे किसी किसान ने अपने खेत में यदि नींबू का बीज बो दिया तो आने वाला फल नींबू का ही तो होगा, वह अंगूर का पौधा नहीं हो जाएगा, बबूल के बीज बोने से आम, सेब या अंगूर के फल प्राप्त नहीं होते। जैसा बीज होता है वैसा ही फल होता है। यदि हमारे शरीर का बीज अपवित्र है तो इसका फल भी अपवित्र ही होगा। आप सभी जानते हैं कि बाजरे के आटे से गेहूँ की रोटी नहीं बनायी जा सकती और गेहूँ के आटे से बाजरा की रोटी नहीं बनायी जा सकती। सरसों में से तिली का तेल नहीं निकाला

जा सकता, तिली में से सरसों का तेल नहीं आएगा, जैसा कारण होता है वैसा कार्य होता है, सोने को पिघलाकर के सोने के ही बर्तन या आभूषण बनाये जा सकते हैं, चाँदी के नहीं अर्थात् जैसा कारण होता है वैसा ही कार्य होता है। हमारे शरीर का जो मूल बीज है वह अपवित्र है, उस अपवित्र से कभी भी, किसी भी काल में, किसी भी क्षेत्र में और किसी भी दशा में इस शरीर को पवित्र करने की चेष्टा मत करो; क्योंकि यह पवित्र हो नहीं सकता।

महानुभाव! एक बार दादा गुरु भारत गौरव आचार्य श्री देशभूषणजी महाराज से किसी ने पूछा– महाराज जी! आप जैसे खिलाड़ी बालक का मन वैराग्य के पथ पर कैसे चला गया? तब उन्होंने बताया कि उनके एक दूसरे चाचा थे; जिनकी पत्नी के मरण के बाद उनकी दूसरी शादी हो गई। दूसरी स्त्री बहुत सुंदर और रूपवती थी। दुर्दैव से विवाह के 8 दिन बाद ही कुएँ में गिरकर उनकी मृत्यु हो गई। कुछ समय बाद शव पानी के ऊपर आ गया। तब उन्होंने उस शव को देखा। डॉक्टर ने पोस्टमार्टम किया। जो शरीर सभी को प्रिय लगता था, उसका माँस, मज्जा, हड्डी आदि निकला हुआ देखकर वे घबरा गए और मन में गहरी विरक्ति उत्पन्न हुई। तभी उन्होंने अपने मन में यह निश्चय किया कि मैं कभी भी शादी नहीं करूँगा।

ऊपर से सुन्दर दिखने वाला शरीर खून, मल-मूत्र, माँसादि का भण्डार है। मूर्ख मानव इस ऊपरी सुंदरता पर रीझता है। राग रूपी विष पीकर मानव जन्म को व्यर्थ

गंवाता है। एक वर्ष तक वह भयानक दृश्य उनकी आँखों के सामने झूलता रहा। उनका खाना-पीना, आमोद-प्रमोद इत्यादि सब छूट गया। उस समय उनकी अवस्था लगभग 16 वर्ष की थी। शरीर की इस अशुचिता ने एक सामान्य बालक के मन में वैराग्य के भाव उत्पन्न कर दिए और विश्व को आचार्य श्री देशभूषण जी मुनिराज के रूप में एक अमूल्य निधि प्राप्त हुई।

यह शरीर भीतर में खून, माँस, हड्डी, मल-मूत्र आदि से भरा हुआ है। अज्ञानी जीव इस झूठे सौन्दर्य पर रीझता है और मोह के बंधन में स्वयं को फँसाकर मनुष्य जन्म व्यर्थ करता है।

दिपे चाम चादर मढी हाड पिंजरा देह।
भीतर या सम जगत में और नहीं घिनगेह॥

ये देह अशुचिमय है, अपवित्र है। यह माँस, रक्त आदि से निर्मित शरीर जल आदि से धोए जाने पर भी शुद्ध नहीं होता जैसे मल-मूत्र, थूक आदि से भरा घट बाहर से जल से धोए जाने पर भी शुद्ध नहीं होता। आचार्य भगवन् सकलकीर्ति जी महाराज ने इस शरीर के निंद्य स्वरूप को बताते हुऐ लिखा है–हे जीव! यह तेरा शरीर रुधिर, माँस आदि अशुभ पदार्थों से भरा है, ऊपर से चमड़े से ढका है, भीतर हड्डियों का ढेर भर रहा है, मल-मूत्र का भाजन है, समस्त अशुभ पदार्थों की खानि यह शरीर है; जो रोग रूपी सर्पों का बिल है, अत्यंत निंद्य है, समस्त अनर्थों की जड़ है ऐसा तुम अपना शरीर समझो। थोडा अंदर झांककर

तो देखो जिस चर्म के पीछे तुम अपना धर्म खो रहे हो, शील को खो रहे हो ऐसी न जाने कितनी धर्म पुत्तलिकाओं से तुम लिपट चुके हो फिर भी संतोष को प्राप्त नहीं हुए।

महानुभाव! इस चमड़ी को देखकर चर्मकार मत बनो। यह तो मल का पिटारा है, यह शरीर स्वभाव से अशुचि है। इस चमड़ी में तुम कितनी ही दमड़ी खर्चो, यह चमकने वाली नहीं और यह संसारी प्राणी अहर्निश इसी से राग किये बैठा है। आचार्य भगवन् श्री अमितगति जी महाराज ने मरण कण्डिका ग्रन्थ में इस शरीर के बारे में बड़ा सुंदर कथन किया है। इस शरीर में 300 हड्डियाँ हैं, 300 संधियाँ हैं, 500 माँसपेशियाँ हैं, 700 शिरायें, 900 स्नायु हैं। 400 शिराओं के जाल, 16 कंडरा, 7 त्वचा, 6 शिराओं के मूल और 80 लाख करोड़ रोम खण्ड हैं। आमाशय और पक्वाशय में 16 आँतें हैं तथा दुर्गंध के आशय 7 हैं। इस देह में व्रण मुख 9 हैं जो दुर्गंधि को झराते हैं। मानव शरीर में शुक्र, मस्तक और मेद ये तीनों एक अंजुली प्रमाण हैं। शरीर में 6 अंजुली प्रमाण पित्त है, तीन अंजुली प्रमाण वसा नामा धातु है, कफ भी छह अंजुली, रक्त 32 पल प्रमाण, मल 6 प्रस्थ प्रमाण, मूत्र आधा आढ़क, नख बीस, दांत बत्तीस हैं। यह शरीर कृमियों से भरा हुआ है; ऐसे घृणित शरीर में हम राग कर रहे हैं। मक्खी के पंख के समान पतले चर्म से यह शरीर यदि ढका नहीं होता तो उसको कौन व्यक्ति स्पर्श करता? कोई देखने की भी इच्छा नहीं करता।

महानुभाव! इस शरीर को अंदर से, बाहर से देखते हैं तो एरंड दंड के समान असार ही नजर आता है। मानव के

इस शरीर में एक नेत्र में 96 रोग संभव है और पूरे शरीर में 5 करोड़ 68 लाख 99 हजार 584 रोग संभव हैं; किन्तु हाँ इस मल से भरे पिटारे में निर्मल भगवती आत्मा बैठी है। कूरे और घूरे से भी निर्मल फसल उग सकती है। यह शरीर जो मल का पिण्ड है उसमें केवलज्ञानी बनने वाली आत्मा की फसल उगाई जा सकती है। यदि रत्नत्रय रूप धर्म बीज इस शरीर में डाला जाए तो निश्चित ही मोक्ष रूपी फल की प्राप्ति होगी।

महानुभाव! यद्यपि यह शरीर अपवित्र है, पर रत्नत्रय से पवित्र है तथा योगियों, मुनीन्द्रों, देवेन्द्रों द्वारा वंदनीय और पूजनीय है। इस शरीर की शुद्धि के लिये जिनवचन रूपी तीर्थ में अवगाहन करें। वह जिनवचन रूप तीर्थ समस्त पाप मलों को धोने में, नष्ट करने में समर्थ है। पुण्य योग से शरीर मिला, वाणी मिली, इंद्रियाँ मिली इसलिए इस चर्म पिण्ड का उपयोग कर लो अन्यथा इसको तो नष्ट होना ही है।

महानुभाव! यह शरीर स्वभाव से अपवित्र है, इसको पवित्र नहीं किया जा सकता। फिर क्या करना चाहिए? हमें अपनी आत्मा को पवित्र करना चाहिए; जिसके पवित्र होने पर इस अपवित्र शरीर से ही हमारा संबंध विच्छेद हो जाए। जब तक हमारी आत्मा अपवित्र है तब तक इस अपवित्र शरीर को ढोना पड़ता है, जब हमारी आत्मा पवित्र हो जाती है तो शरीर को नहीं ढोना पड़ता। जब तक व्यक्ति labour (मजदूर) बनकर बोझा ढोने का कार्य कर रहा है तब तक

उसे ढोना ही पड़ेगा और जब उस कार्य को छोड़कर स्वयं मालिक बन जाएगा तो बोझा नहीं ढोना पड़ेगा।

जब तक हमारी आत्मा कर्मों की दास बनी हुई है तब तक अपवित्र शरीर का बोझा ढोना ही पड़ेगा, जब हमारी आत्मा कर्मों की दासता से मुक्त हो जाएगी, तब इसे कर्मों का बोझा, कर्मों के फल का बोझा नहीं ढोना पड़ेगा फिर आत्मा स्वयं स्वतन्त्र हो जाएगी। इस अपवित्र शरीर को छोड़ने में ही भलाई है किन्तु इसे ऐसे नहीं छोड़ना है क्यो? क्योंकि इस अपवित्र शरीर के माध्यम से हम पवित्रता का काम कर सकते हैं। आप पढ़ते हैं यह शरीर कैसा है शरीर के बारे में लिखा है–

केसर चंदन पुष्प सुगंधित वस्तु देख सारी।
देह परसते होय अपावन निशदिन मल जारी॥

ये शरीर ऐसा है कि केसर, चंदन इत्यादि भी लगाओ तो शरीर के साथ लगते ही वे भी अपवित्र हो जाते हैं। दूध रखा है गिलास में तो उसे पीने का मन करता है किन्तु यदि कोई दूध पीकर पुनः मुँह से वमन कर दे तो उसे देखकर ग्लानि आ जाएगी; क्योंकि शरीर का स्पर्श होते ही वह दूध भी खराब हो गया। शरीर के संस्पर्श से पदार्थ खराब हो जाता है, यह शरीर ऐसा ही है इसलिए कहा है–

राचन जोग स्वरूप न जाको, विरचन जोग सही है।
यह तन पाय महातप कीजे, यामें सार यही है॥

यह शरीर दुर्जन-क्रूर है। इसका स्वभाव ऐसा है जैसा दुर्जन का स्वभाव है। दुर्जन के साथ चाहे कितना भी अच्छा

करो किन्तु वह अपने उपकृत का भला नहीं मानता। **'शठं शाठ्यं समाचरेत्'** शठ के साथ शठता का व्यवहार करो।

पोषत तो दुःख दोष करे अति सोषत सुख उपजावे।
दुर्जन देह स्वभाव बराबर मूरख प्रीति बढ़ावै॥

यह शरीर पोषण करने से दुःख देने वाला है और इसका शोषण करने से सुख देने वाला है। यदि दुष्टों को अंकुश में रखा जाए, अनुशासन में रखा जाए तो दुष्टों के माध्यम से भी बड़े-बड़े कार्य सम्पन्न किये जा सकते हैं और यदि उनकी प्रवृत्ति उच्छृंखल हो जाए, दुष्टों को यदि स्वतन्त्रता दे दी जाए तो दुष्ट अपने लिए भी अभिशाप बन जाते हैं और दूसरों की लिये भी खतरनाक सिद्ध होते हैं। इसलिए दुष्टों को अनुशासन में रखना जरूरी है। ये शरीर भी दुष्ट है, दुर्जन है, इस पर अंकुश लगाना जरूरी है, तभी इस शरीर से अच्छा कार्य हो सकता है। अच्छा कैसे किया जा सकता है? उसके लिये एक उदाहरण दिया–

काना पोंडा पड़ा हाथ यह चूसे तो रोवे।
फले अनंत जु धर्मध्यान की भूमि विषै बोवे॥

यह शरीर तो काने पोंडें (गन्ने की ऐसी पोरी जो कानी हो अर्थात् जिसमें रस ना हो) की तरह से है, इसमें कोई सार नहीं है। खूब देख लिया शरीर को, शरीर में कहीं भी कोई सार नहीं है। यह हड्डी, माँस, चमड़ी, रक्त, मज्जा, मेदा, मूत्र, मल, शुष्क, शोणित आदि से भरा पड़ा है। इसका चाहे कहीं से भी ऑपरेशन कराया जाए इसमें कोई भी सारभूत वस्तु नहीं निकल सकती। तो फिर इस शरीर

के माध्यम से क्या किया जा सकता है? धर्मध्यान की भूमि में शरीर से पुरुषार्थ किया जाए तो पुनः इस शरीर के माध्यम से अपनी आत्मा को परमात्मा बनाने का कार्य किया जा सकता है। जैसे अशुद्ध धातु में किट्टकालिमा लगी है, उस किट्टकालिमा पर थोड़ा-सा पेट्रोल डालकर आग लगा दी जाए तो पेट्रोल के साथ किट्टकालिमा जल जाती है और किट्टकालिमा की जलती अग्नि में वह धातु शुद्ध हो जाती है। ऐसे ही शरीर के माध्यम से हम ऐसा पुरुषार्थ कर सकते हैं कि जिसके माध्यम से आत्मा के साथ लगी किट्टकालिमा शरीर, वचन, मन इन तीनों योगों के सम्यक् पुरुषार्थ से नष्ट हो सकती है।

महानुभाव! हमें निरंतर चिंतवन करना है कि इस शरीर का स्वभाव कैसा है–

पल रुधिर राध मल थैली, कीकस वसादि तै मैली।
नव द्वार बहे घिनकारी अस देह करे किमि यारी॥

यह शरीर तो थैली है, प्लास्टिक की सी थैली है, जो ऊपर से चमक रही है, स्वच्छ दिखाई दे रही है और थैली के अंदर क्या भरा हुआ है–मल-मूत्र, खून-पीव भरी हुई है। इस थैली का आकार मानवाकार बना दिया है। कहीं से भी किंचित् चोट लग जाती है तो तुरंत घृणित पदार्थ बह निकलता है। नवद्वार अर्थात् आँख में से कीचड़ बह रहा है, नाक में से नासिका का मल बह रहा है, कान में से कान का मल बह रहा है, मुख में से लार आदि बहती है, मल-मूत्र आदि बहता है ये नव मल द्वार हैं जिनसे

मल निःसृत होता है। ऐसे शरीर के प्रति भी जिस मूढ़ व्यक्ति की अति प्रीति है, गाढ़ स्नेह है, तीव्र मोह है तो यही कहना चाहिए कि उस व्यक्ति को संसार से अभी भय उत्पन्न नहीं हुआ, वह व्यक्ति अभी दीर्घकाल तक संसार में परिभ्रमण करेगा। अभी वह अपनी आत्मा को परमात्मा नहीं बना सकता। जब तक शरीर से राग है तब तक समझ लो वह आत्मा के प्रति बगावत का काम कर रहा है। शरीर का हित कर रहा है तो अभी आत्मा का हित नहीं करना चाहता, क्योंकि दोनों हित एक साथ नहीं हो सकते। आत्मा का हित करने वाला शरीर का हित नहीं कर सकता और शरीर का हित करने वाला आत्मा का हित नहीं कर सकता।

एक साधक जिनका शरीर अत्यंत क्षीणकाय था, बाहर से देखने पर ऐसा प्रतीत होता है था जैसे शरीर मात्र हड्डियों का ढांचा ही रह गया हो, उस पर बड़ी सूक्ष्म चमड़ी दिखाई दे रही थी। उनके शरीर का वजन बहुत कम था, उन्हें देखकर के किसी श्रावक ने बड़ी विनम्रता से पूछा—महाशय! आपका शरीर तो अत्यन्त क्षीणकाय है और सुनने में आता है आप बहुत उच्च कोटि के विद्वान् हैं, साधक हैं, धर्मात्मा हैं, आप आत्मा का अनुभव करने वाले, धर्म पर स्वयं चलने वाले व दूसरों के लिए प्रेरक निमित्त हैं; मैं समझ नहीं पा रहा हूँ कि इतने क्षीण शरीर में आप आत्मा का अनुभव कैसे करते हैं, आपकी क्या साधना चलती है? अरे! शरीर ही क्षीण है तो साधना कैसे? साधक ने कहा—आपका कहना ठीक है, दरअसल

में बात ऐसी है मेरी स्थिति उस किसान जैसी है जिसके पास पानी लिमिट में है, उसके पास दो बगीचे हैं एक बगीचा उसके महल के अंदर है जो फूलवारी है और दूसरा बगीचा उसके महल के बाहर है जो बड़े पेड़ हैं। गर्मी का समय है पानी एक ही टंकी में है, उस एक टंकी पानी को यदि अंदर की फुलवारी में सिंचन करता हूँ तो बाहर का बगीचा सूख जाता है और यदि उस पानी का सिंचन बाहर के बगीचे में करता हूँ तो अंदर की फुलवारी सूखती है। अब वह किसान क्या करेगा? संसार में कुछ किसान ऐसे हैं जो बाहर के बाग-बगीचे को हरा-भरा रखते हैं कि लोग बाहर से आयेंगे, देखेंगे वाह! क्या सुन्दर बगीचा है; किन्तु अंदर सूखा पड़ा है। कुछ ऐसे होते हैं अरे! हमें तो महल के अंदर रहना है बाहर थोड़े ही जाना है, हमें अंदर के पुष्पों से खुशबू आयेगी बाहर का बगीचा सूखता है तो सूखने दो, अंदर का बगीचा हमारा हरा-भरा रहना चाहिए।

बस इसी तरह से मेरे पास भी दो बगीचे हैं, एक शरीर का बगीचा है और एक मेरी आत्मा का बगीचा है। तन-चेतन दो बगीचे हैं, जब मैं अपना उपयोग रूपी जल, अपना ज्ञानामृत, अपना पुण्य उस शरीर के प्रति खर्च करता हूँ तो मेरा आत्मा का बगीचा सूख जाता है, आत्मा के गुणधर्म नष्ट होने लगते हैं और जब मैं अपने उपयोग को, अपने समय को, अपने पुण्य को, सुव्रतों को, तीनों योग की प्रवृत्ति को आत्मा के लिये करता हूँ तो फिर शरीर का बगीचा सूखने लगता है। दोनों बगीचों को एक साथ हरा-भरा नहीं किया जा सकता।

महानुभाव! यह शरीर का जो बगीचा है वह एक माध्यम है, जबरन इसे सुखाओ मत, सहजता से यदि पानी बरस रहा है और हरा-भरा हो रहा है तो होने दो किंतु अपना उपयोग आत्मा के बगीचे पर लगाओ। अपना उपयोग तन के बगीचे पर लगा दोगे; आत्मा के प्रति बेखबर हो जाओगे तो आत्मा नष्ट होने लगेगी। महानुभाव! ये शरीर तो ऐसा घोड़ा है जिस पर सवारी करके मोक्ष महल के द्वार तक पहुँचना है, शरीर रूपी घोड़े के बिना मोक्ष महल के द्वार नहीं मिलते और ये मानव रूपी घोड़ा ही वहाँ तक पहुँच सकता है अन्य घोड़े नहीं पहुँचा सकते। इस मानव शरीर का उपयोग इस ही कार्य में करना चाहिए कि हम इसके माध्यम से मोक्ष महल के द्वार तक पहुँचे। अन्य शरीर मोक्ष महल के द्व ार तक नहीं पहुँचा सकते, वह तो अन्य-अन्य गतियों में भ्रमण कराते रहते हैं इसलिए इस शरीर की अशुचिता को देख करके इससे विरक्त तो रहना है किन्तु इसे पारितोषिक भी देना है, पारिश्रमिक भी देना है। जितना श्रम करे उतना दो, उसके माध्यम से आत्मा का काम लेते जाओ। ऐसा नहीं है कि शरीर की सेवा में आत्मा को भुला दिया जाए।

अशुचिभावना का आशय इतना ही समझना चाहिए कि हम शरीर के प्रति विरक्त रहें, शरीर में आसक्त न हों। शरीर की अशुचिता का चिंतन करें और आत्मा की परम पवित्रता के लिये भावना भायें, पुरुषार्थ करें यही अशुचि भावना का संक्षिप्त सार है। आज बस इतना ही।

॥श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

अशुचि भावना संबंधित उपयोगी श्लोक व गाथाएँ

स्थानेन बीजेन तथाश्रयेण शश्वन्मलस्यन्दन संप्रयोगात्। शरीरमावेदशुचाति मत्वा शुचित्वमस्मिन् विदुषां न कार्यम्।।31/91।। —वरांग च., आ. जटासिंहनन्दि जी

इस शरीर का बीज स्त्री तथा पुरुष का मल है, जिस स्थान पर बनता है वह भी मलमय है, स्वयं मलों का भण्डार है, तथा इसके आँख, नाक, कान, मुख आदि नव द्वारों से मल ही बहता रहता है। शरीर के एक-एक अणु को प्रत्येक दृष्टि से अशुचि ही समझिए। किसी भी विद्वान् को इसे पवित्र समझने या बनाने का दु:साहस नहीं करना चाहिए।

भवोद्भवानि दु:खानि यानि यान्यत्र देहिभि:।
सह्यन्ते तानि तान्युच्चैर्वपुरादाय केवलम्।।16।।

—ज्ञाना./आ. शुभचंद्र स्वामी

प्राणी संसार में परिभ्रमण करते हुए उससे उत्पन्न जिन-जिन दु:खों को यहाँ सहते हैं उन महान् दु:खों को वे केवल उस शरीर को ग्रहण करने के कारण ही सहा करते हैं।

दुग्गंधं बीभच्छं कलिमलभरिदं अचेयणं मुत्तं।
सडणप्पडणसहावं देहं इदि चिंतए णिच्चं।।44।।

—बा.अ., आ. कुंदकुंद स्वामी जी

यह शरीर दुर्गंध से युक्त है, घृणित है, गंदे मल से भरा हुआ है, अचेतन है, मूर्तिक है तथा सड़ना व गलना स्वभाव से सहित, है–ऐसा चिंतन सदैव करना चाहिए।

तथाशुचिरयं कायः कृमिधातुमलान्वितः।
यथा तस्यैव संपर्कादन्यत्राप्यपवित्रता॥6/50॥

–प. पंच., आ. पद्मनन्दिजी

क्षुद्र कीड़ों, रस-रुधिरादि धातुओं तथा मल से संयुक्त यह शरीर ऐसा अपवित्र है कि उसके ही संबंध से दूसरी (पुष्पमाला आदि) भी वस्तुएँ अपवित्र हो जाती हैं इस प्रकार से शरीर के स्वरूप का विचार करना अशुचि भावना है।

कायोऽयं यमधाम दुःख जलधिः सर्वाशुचीनां निधिः॥5/106॥

–श्री मल्लिनाथ पुराण/आ. सकलकीर्तिजी

यह शरीर जिसका कि लोगों को घमण्ड है यह यमराज के रहने का स्थान है, अनेक प्रकार के दुःखों का समूह है एवं रक्त, माँस आदि जितने भी अपवित्र पदार्थ हैं उन सबका खजाना है। इस प्रकार से चिन्तवन करना अशुचि भावना है।

शरीरमिदमत्यन्ताशुचियोनि।

स्नानानुलेपन धूप प्रघर्ष वास माल्यादिभिरपि न शक्यम- शुचित्वमपहर्तुमस्य। सम्यग्दर्शनादि पुनर्भाव्यमानं जीवस्यात्यन्तिकीं शुद्धिमाविर्भावयतीति तत्त्वतो भावनमशुचित्वानुप्रेक्षा। –स.सि., आ. पूज्यपाद स्वामी

यह शरीर अत्यन्त अशुचि पदार्थों की योनि है।

स्नान अनुलेपन, धूप का मालिश और सुगन्धिमाला आदि के द्वारा भी इसकी अशुचिता को दूर कर सकना शक्य नहीं है, किन्तु अच्छी तरह भावना किये गये सम्यग्दर्शन आदिक जीव की आत्यान्तिक शुद्धि को प्रकट करते हैं। इस प्रकार वास्तविक रूप से चिन्तवन करना अशुचि अनुप्रेक्षा है।

नाना कृमि-शताकीर्णे दुर्गन्धे मलपूरिते।
आत्मनश्च परेषां च क्व शुचित्वं शरीरके॥6/36॥

–तत्त्वार्थसार, आ. अमृतचंद्र सूरि

अनेक प्रकार के सैकड़ों कृमि कीटों से यह शरीर भरा रहता है और मल-मूत्र-विष्ठा-थूक-खकार-पीप इत्यादि मलों से पूरित रहता है इसलिए न यह शरीर पवित्र है न दूसरों का। जैसा यह शरीर है वैसा ही दूसरों का। इसमें पवित्रता कहाँ से आयी? ऐसे अपवित्र, नीच शरीर से स्नेह करना बड़ी भूल है।

तारिसयममेज्झमयं सरीरमं किह जलादिजोगेण।
मेज्झं हवेज्ज मेज्झं ण हु होदि अमेज्झमयघडयो॥1813॥

–भ.आ., आ. शिवकोटीजी

निर्मल को मलिन करने वाला अपवित्र शरीर जलादि के संबंध से कैसे पवित्र हो सकता है, क्या मल से भरा घड़ा पानी से धोने से पवित्र हो सकता है?

मणुयाणं असुइमयं विहिणा देहं विणिम्मियं जाण।
तेसिं विरमण कज्जे ते पुण तत्थेव अणुरत्ता॥85॥

–का.नु., आ. कार्तिकेय जी

हे भव्य! यह मनुष्यों का शरीर कर्म के द्वारा अशुचि रचा गया हुआ जान, यहाँ ऐसी उत्प्रेक्षा-भावना करते हैं कि यह देह इन मनुष्यों को वैराग्य उत्पन्न होने के लिए ही ऐसा बनाया है, परन्तु ये मनुष्य उसमें भी अनुरागी होते हैं यह अज्ञान है।

यच्छुक्रशोणित समुत्थ मनिष्ट गन्धं,
नानाविध कृमि कुलाकुलितं समन्तात्।
व्याध्यादिदोष मल सद्म विनिन्दनीयं,
तद्धारितः कथमिहर्च्छति शुद्धि मङ्गम्॥746॥

–आ. अमितगति जी, सुभाषित रत्न संदोह

जो शरीर वीर्य व रज से उत्पन्न हुआ है, दुर्गन्ध से व्याप्त है, अनेक प्रकार के लट आदि क्षुद्र कीड़ों से सर्वतः परिपूर्ण है, व्याधि आदि दोषों एवं मल का स्थान है तथा निन्दनीय है वह यहाँ जल से कैसे शुद्धि को प्राप्त हो सकता है? नहीं हो सकता है।

अशुभाः संति निःशेषाः पुंसां कामार्थ विग्रहाः।
शुभोऽत्र केवलं धर्मो लोकद्वय सुखप्रदः॥1904॥

– मरणकंडिका, आ. अमितगति जी

इस जगत् में पुरुषों के कामभोग, धन और शरीर ये सब ही अशुभ-अशुचि हैं, इस जगत् में केवल एक धर्म ही शुभ है, इस लोक में व परलोक में सुखदायी है।

ण्हाणेण णंतवारं, देहो णो होदि पवित्तो कया वि।
धुवणे जह इंगाल, णो धवलं कया वि होदि तं॥116॥

–अणुवेक्खासारो, आ. वसुनंदी मुनि,

जिस प्रकार कोयले को धोने पर वह कभी भी श्वेत नहीं होता उसी प्रकार अनंत बार स्नान करने पर भी देह कभी भी पवित्र नहीं होती।

तित्थवंदण-जिणच्चण-दाण परोवयार-गुरुसेवाहिं।
जव-तव-दयादीहिं, णर-देही मण्णिज्जदि सुद्धो॥120॥

–अणुवेक्खसारो,आ. वसुनंदी मुनि

तीर्थवंदना, जिनार्चना, दान, परोपकार, गुरु सेवा, जप, तप, दया आदि से मनुष्य का शरीर शुद्ध माना जाता है।

माँस लिप्ता सिराबद्धा कुथिता स्थिदलाचिता।
सतां कायकुटी कुत्स्या कुथितैर्विविधैर्भृता॥1907॥

–मरण कंडिका

यह मानव शरीर रूपी कुटी-झोंपड़ी माँस रूपी मिट्टी से लीपी गई है, वसाओं से बँधी है, कुथित अस्थिरूप पत्तों से छाई हुई है और विविध घिनावने पदार्थों से भरी हुई है ऐसी यह कुटी सदा ही सज्जनों द्वारा ग्लानि करने योग्य है।

अशुचिसकलपूर्णं धातुविष्ठादिधाम,
दुरितनिखिलबीजं कृत्स्नदुखैक हेतुम्।
वपुरपगतसारं संविदित्वात्र दक्षाः,प्रभजत
शिवकामा यत्नतो मोक्षसारम्॥15/62॥

–श्री पार्श्वनाथ चरितम्, आ. सकलकीर्तिजी

यह शरीर समस्त अपवित्र पदार्थों से भरा हुआ है, धातु तथा विष्ठा आदि का स्थान है, समस्त पापों का बीज है, सब दुःखों का प्रमुख कारण है और सार रहित है ऐसा

जानकर हे मोक्षाभिलाषी चतुरजन! इस जगत् में यत्नपूर्वक मोक्षरूप सार पदार्थ की आराधना करो।

''नास्त्यत्र पुनः शरीरे किंचित्कमनीयं शुचि वा न जलादीनां शुचिहेतुत्वं, सम्यग्दर्शनादि पुनर्भाव्यमानं जीवस्यात्यंतिकीं शुद्धि मार्विभावयतीति तत्त्वभावनमशुचित्वाऽनुप्रेक्षा।

–चारित्रसार/चामुंडराय जी कृत

इस शरीर में कुछ भी भाग पवित्र और सुन्दर नहीं है, न जलादि ही इसकी पवित्रता के कारण हो सकते हैं। इस संसार में केवल सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र ही ऐसे हैं कि जिनकी भावना करने से यह जीव अत्यन्त पवित्र हो जाता है। इस प्रकार शरीर के वास्तविक तत्त्व का चिंतवन करना अशुचित्वानुप्रेक्षा है।

अशुचित्त्वं शरीरस्य भावयामास शुद्धधीः।
सप्तधातुमलैर्युक्तं शरीरं तापकं सदा॥10/61॥

कथं सन्तः प्रकुर्वन्ति प्रीतिमत्र शरीरके।
चर्मास्थि संभवे नित्यं चाण्डाल गृह सन्निभे॥10/63॥

–श्रीपाल चरित्र, आ. सकलकीर्ति स्वामी

यह शरीर मल में उत्पन्न तथा मल से ही निर्मित है। हाड-माँसादि सप्त धातुओं से युक्त है। सदैव दुःख और संताप का कारण है। इस प्रकार के शरीर में भला संत पुरुष प्रीति कर सकते हैं क्या? नहीं। वे इसे चाण्डाल के घर के समान हेय समझते हैं। ऐसा चिंतन अशुचि भावना है।

मणुआणं असुइमयं विहिणादेहं विणिम्मियं जाण।
तेसिं विरमणकज्जे ते पुण तत्थेव अणुरत्ता।।

–यशोधर चरित्र, पुष्पदंत कवि

भो भव्य! इन मनुष्यों के शरीरों की जो विधिना (कर्म) ने अशुचि (अपवित्र) बनाया है सो ऐसी संभावना कर कि मनुष्यों को वैराग्य उत्पन्न होने के अर्थ निर्मित किया है परन्तु यह मनुष्य इस देह में भी अनुरागी हो जाता है इससे विशेष और अज्ञान क्या है?

शुक्रशोणितकुबीजजन्मके सप्तधातुमयके त्रिदोषके।
कः शुचं तदनुवाशुचौ शुची रज्यते स्वपरयोः शरीरके।।63/84।।

–हरिवंश पुराण, आ. जिनसेन स्वामी

यह अपना अथवा पराया शरीर रज, वीर्यरूप निन्द्य निमित्तों से उत्पन्न है, सप्त धातुओं से भरा है एवं वात, पित्त व कफ इन तीन दोषों से युक्त है इसलिए ऐसा कौन पवित्र आत्मा होगा जो इस अपवित्र शरीर में वियोग के समय शोक को प्राप्त होगा तथा संयोग के समय राग करेगा। ऐसा चिन्तवन करना अशुचि भावना है।

विज्जमाण-पदत्थाण,
पहावो दिस्सदि णिच्चं लोयम्मि।
आहारो तह भावो,
सुद्धाहारं करेज्ज जणा।।5।।

लोक में विद्यमान पदार्थों का प्रभाव नित्य ही दिखता है। जैसा आहार होता है वैसा ही उसका प्रभाव होता है। अतः सभी जनों को शुद्ध आहार करना चाहिए।

(आ. वसुनंदी मुनि, अहिंसगाहारो)

7.

आस्रव अनुप्रेक्षा

ज्यों सछिद्र तरणि विषैं, जल आगम हो जाय।
त्यों कषाय अरु योग से, कर्म शुभाशुभ आय॥
कर्म शुभाशुभ आय, कर्म तव चहुविध बाँधे।
मिथ्यादृग परमाद विरति बिन आस्रव राधे॥
कहे सूरि वसुनंदि, भेद सत्तावन हैं त्यों।
आस्रव रोके कपाट लगा ले रुकते हैं ज्यों॥

मोह नींद के जोर जग वासी घूमें सदा
कम चौर चहु ओर, सस्वस लुटें सुध नही

आस्रव अनुप्रेक्षा

महानुभाव! विगत दिवस हम देख रहे थे अशुचि भावना के संबध में। कितना अपवित्र है ये शरीर, फिर इस शरीर के प्रति इतना मोह, इतना लगाव, इतनी आसक्ति क्यों? क्योंकि शरीर के यथार्थ स्वरूप को हमने आज तक जान नहीं पाया। जब तक हम किसी के यथार्थ-स्वरूप को नहीं जान पाते तब तक उसके प्रति वह व्यवहार नहीं कर पाते जो करना चाहिए। कई बार दुष्ट को शिष्ट मानकर के दुष्टों के साथ शिष्टों जैसा व्यवहार हो जाता है, तो कई बार शिष्टों के साथ दुष्टों जैसा व्यवहार हो जाता है। जिनके प्रति उपेक्षणीय व्यवहार करना चाहिए हम अनभिज्ञ होने से उनके प्रति माध्यस्थ भाव भी नहीं रख पाते।

जैसे सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा गुणीजनों के प्रति प्रमोद भाव रखता है, प्राणीमात्र के प्रति मैत्री भाव रखता है, दीन दुःखी के प्रति करुणा का भाव रखता है एवं विपरीत वृत्ति वालों के प्रति माध्यस्थ भाव रखता है, किन्तु जो व्यक्ति इन चार व्यक्तियों की विशेषताओं को नहीं जानता है तो वह इन व्यक्तियों के प्रति यथोचित व्यवहार न करके अनुचित व्यवहार भी कर लेता है। यही कारण है कि संसारी प्राणी को जिस शरीर आदि के प्रति विरक्ति का भाव रखना चाहिए उसे न रखकर आसक्ति का भाव रख लेता है। ये भाव चाहे शरीर के प्रति हो, संसार के प्रति हो, पर द्रव्यों

के प्रति हो, चाहे अध्रुव वस्तुओं में ध्रुव धारणा का भाव हो, चाहे संसार में शरणभूत मानने का भाव हो ये सभी भाव स्वभाव नहीं हैं। सुभाव नहीं हैं, ये दुर्भाव हैं। इन दुर्भावों का अभाव हो जाना ही सुभाव की प्राप्ति है और सुभाव के माध्यम से ही स्वभाव को प्राप्त किया जा सकता है।

सुभाव स्वभाव को प्राप्त करने एक मार्ग है, पगडंडी है; जिसके माध्यम से स्वभाव तक पहुँचा जा सकता है। किंतु दुर्भावों के गर्त में पड़े हुए व्यक्ति को मंजिल की प्राप्ति जरा कठिन होती है। दुर्भाव के कूप में से निकलकर पहले समतल जमीन पर आए, फिर सुभाव की पगडंडी का सहारा लेकर चलते-चलते वह एक पर्वत की चोटी तक पहुँचने के लिये पर्वत के किसी किनारे की पगडंडी को पकड़ता है और शनैः-शनैः आगे बढ़ता जाता है। पुनः एक दिन ऐसा आता है कि वह चोटी तक पहुँच जाता है।

सुभाव में चलने वाला व्यक्ति यदि अपनी दृष्टि अधो लक्ष्य की ओर नहीं रखता ऊर्ध्व की ओर दृष्टि रखता है तो सम्भव है वह स्वभाव की ओर पहुँच जाता है।

महानुभाव! यह आत्मा जो अनादि से कर्मों से बंधी हुई है, वह आत्मा निरन्तर युद्ध कर रही है। कर्म आत्मा को परास्त करने का भरपूर प्रयास कर रहे हैं और वे अपने प्रयास में सफल भी हो रहे हैं। आत्मा उन कर्मों को अपना हितैषी मानकर नष्ट नहीं कर रही। किन्हीं कर्मों को अपने साथ में मिला लेती है, उन कर्मों का साथ देती है, उन कर्मों

को बचाना चाहती है तो किसी-किसी कर्म से घबराकर उसे नष्ट करना चाहती है।

इसे ऐसा समझें–कि हमारी सेना में शत्रुपक्ष के सैनिक आ गये हैं जिन्होंने हमारी पोशाक पहन ली है। वे ही सैनिक हमारी सेना के मूल सैनिकों का घात कर रहे हैं, उन्हें मार रहे हैं। अर्थात् चाहे पुण्य प्रकृतियाँ हों या पाप प्रकृतियाँ दोनों ही आत्मा के लिए शत्रु हैं। पाप प्रकृतियाँ तो हमें शत्रुरूप दिखाई दे रहीं हैं, किंतु पुण्य प्रकृतियाँ भी शत्रु हैं। हम पाप प्रकृतियों को नाश करने का प्रयास करते हैं किन्तु पुण्य प्रकृति इस प्रकार से आत्मा को छलती है कि आत्मा के गुण ही नष्ट होते हैं अर्थात् किसी भी प्रकार से हमारी ही सेना नष्ट होती है।

महानुभाव! आस्रव भावना के संबंध में हम आज जानना चाहते हैं तो पहले यह समझ लें आस्रव है क्या? 'आस्रव इति आस्रवः' 'श्रव' शब्द का अर्थ होता है बहना। आङ् प्रत्यय लगाने पर बहने पर्यंत अर्थात् जो वस्तु जहाँ पर थी, वहाँ पर नहीं है उसने वहाँ से अपना स्थान परिवर्तन किया है। आस्रव माने अपनी ओर आना और निराश्रव माने निकलकर के बाहर की ओर जाना। तो आस्रव जो होता है वह आत्मा की ओर होता है। किसका आस्रव हो रहा है? आत्मा में क्या आ सकता है? आत्मा में आ सकती है कार्माण वर्गणाएँ। इन कार्माण वर्गणाओं का आत्मा की ओर आना आस्रव है। वे कार्माण वर्गणाएँ आत्मा की ओर आती रहें, यदि आत्मा उन्हें ग्रहण नहीं करे तो

वे वर्गणाएँ हमारा किंचित् भी अहित नही कर सकती, किंचित् भी घात नहीं कर सकती। किन्तु हमारी आत्मा उन कार्माण वर्गणाओं के प्रति राग और द्वेष का भाव पैदा करके उन रुक्ष वर्गणाओं को राग की स्निग्धता से चिपका लेती हैं। जो स्निग्ध वर्गणाएँ हैं उनके साथ हमारे रुक्ष-द्वेष भाव के माध्यम से संश्लेष संबंध होता चला जाता है और आत्मा पुनः उस राग-द्वेष की चिपकन और रुक्षता से कार्माण वर्गणाओं से बंधती चली जाती है, लिपटती चली जाती है। जैसे किसी वस्तु को सुरक्षित रखने के लिए उस पर रुई लपेटी थी, किंतु रुई को लपेटते समय उस पर घृत भी लगा दिया, अब जमीन पर रखा तो मिट्टी चिपकने लगी, धूल-मिट्टी पुनः कंकड़-पत्थर चिपकने लगे, ऐसे उस पर बहुत बड़ा लेप सा चढ़ता चला गया। ऐसे ही आत्मा भी राग और द्वेष से स्निग्ध व रुक्ष हो रही है इसलिए आत्मा पर भी कार्माण वर्गणाओं का, पुद्गलों का लेप होता चला जा रहा है।

यदि आत्मा में ये राग-द्वेषादि मोह का भाव न हो तो बंधन भी न बंधे। आत्मा योगों के माध्यम से कर्मों का आस्रव करती है क्योंकि आत्मा बिना योगों के कोई भी क्रिया करने में समर्थ नहीं हो सकती है। योगों के माध्यम से आत्मा में जब परिस्पंदन होता है तो कार्माण वर्गणाएँ आती हैं और कार्माण वर्गणाएँ ज्यों आती हैं त्यों वे बंध को भी प्राप्त होती हैं। मनोयोग से, वचन योग से, काय योग से कार्माण वर्गणायें आयीं, और आत्मा के प्रदेशों में परिस्पंदन हुआ उस

समय इस आत्मा के मोहनीय कर्म के उदय से रागजन्य, द्वेषजन्य, कषायजन्य, मोहजन्य परिणाम होते हैं उससे वे कार्माण वर्गणायें चिपक जाती हैं। यदि आत्मा में मोह न हो तो योग उतना खतरनाक नहीं होता, सबसे ज्यादा खतरनाक है–मोह। आस्रव का मूल कारण है मोह। मोह के अलग-अलग भेद किये। सबसे बड़ा मोह का भेद; जो राजा के समान है, वह है मिथ्यात्व।

आचार्य भगवन् श्री अमितगति स्वामी जी ने भव परिभ्रमण का मूल कारण बताते हुए मरण कण्डिका में लिखा–

दुःखोदके भवाम्भोधौ कषायेंद्रियवार्चरैः।
आस्रवः कारणं ज्ञेयं, भ्रमतो भवभागिनः॥1912॥

कषाय और इन्द्रिय रूपी जलचर मगरमच्छों से भरे हुए दुःखरूपी जल से युक्त इस संसार रूपी सागर में संसारी जीवों को परिभ्रमण कराने का हेतु आस्रव है। अर्थात् जीव के भव परिभ्रमण का कारण कर्म है, उस कर्म का भी कारण मिथ्यात्वादि आस्रव है।

राग, द्वेष, दोनों प्रकार का मोह, इन्द्रियाँ, चारों प्रकार की संज्ञा, गारव, कषाय, योग और हिंसादिक पाप ये सब मनुष्यों के अनेक अनर्थ उत्पन्न करने वाले हैं। कातर पुरुष बड़ी कठिनता से इनका त्याग कर सकते हैं; इसलिए कर्मरूपी शत्रुओं से भयभीत रहने वाले मनुष्यों को इन समस्त कर्मों के आस्रव के कारणों का अवश्य त्याग कर देना चाहिए। आश्चर्य होता है कि शरीर के स्वभाव को जानने वाले पुरुष

को भी रागभाव, घिने शरीर में कैसे रंजायमान कराता है और हितकारी बांधवों में द्वेष कराता है। जीव के पंचेन्द्रियों के मनोहर विषयों में जो अभिलाषा होती है उससे सुख नहीं उल्टे पापबंध ही होता है और उस तीव्रविषयाभिलाषा से अविरति रूप भाव होते हैं उससे कर्मों का महान् आस्रव होता है। मिथ्यादर्शन, अविरति, कषाय व योगों के द्वारा कर्मों के भार से युक्त हुआ जीव भव सागर में डूब जाता है।

मिथ्यात्व वह राजा है जो आत्मा के साथ आमने-सामने युद्ध करता है। वह ऐसा राजा है जो कि हमारी आत्मा को मिथ्यापने से संयुक्त करता है। हमारी आत्मा पर ऐसी पट्टी बांध देता है जिससे उसकी बुद्धि अवकुंठित हो जाती है, मोहित हो जाती है, विपरीत हो जाती है, मिथ्याबुद्धि हो जाती है। आत्मा जब मिथ्यात्व के साथ युद्ध करना प्रारंभ करता है तब आत्मा उस मिथ्यात्व से बचने का पुरुषार्थ करता है। इस मिथ्यात्व राजा की सेनाओं के चार टुकड़े हैं जिनके नाम हैं–अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। ये चार टुकड़ी सेना की आगे-पीछे, दायें-बायें चारों तरफ से वार करती हैं। आत्मा कहाँ से बचे? सबसे पहले आत्मा को बचना है मिथ्यात्व से। मिथ्यात्व रूपी राजा को पराजित किया जाए यदि नष्ट नहीं भी किया है तो मिथ्यात्व रूपी राजा को बंधन में डाल दिया जाए। मिथ्यात्व रूपी राजा से लड़ने के लिये एक सुदृढ़ सेनापति भेज दिया जाए तब निःसंदेह अन्य सेनाओं के भी पैर उखड़ने लगते हैं।

जब किसी सेना का सेनानायक धराशाही होता है, बंधन को प्राप्त होता है, तो प्रायःकर के सेना भी नतमस्तक हो जाती है। मिथ्यात्व सबसे खतरनाक है। मिथ्यात्व सामने से वार करता है, अन्य सभी जो शत्रु हैं वे पीछे से छिपकर वार करते हैं।

आस्रव पाँच प्रकार से ही होता है, कोई छठवाँ कारण नहीं है आस्रव का। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग। मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का भेद है, अविरति भी मोहनीय कर्म के उदय से होती है, प्रमाद भी मोहनीय कर्म के उदय से आता है, कषाय भी मोहनीय कर्म के उदय से होता है और योग भी जब तक मोहनीय कर्म है तब तक ही घातक है, मोहनीय कर्म नष्ट हो जाता है फिर योग घातक नहीं होता।

12वें-13वें गुणस्थान में बिना मोह के, योग के माध्यम से होने वाला आस्रव आत्मा को बांधने में समर्थ नहीं होता। इसलिए जो घातक होता है वह है—मोह। मोह ही घातक है चाहे उसके कितने ही रूप रख लिये जाएँ। चाहे वह मिथ्यात्व के रूप में है तब भी घातक है, सम्यक्मिथ्यात्व के रूप में घातक है तब भी घातक है और सम्यक् प्रकृति के माध्यम से घात करता है तब भी घातक है। उस मोह की अन्य 4 प्रकार की टुकड़ी हैं अनंतानुबंधी क्रोध-मान-माया-लोभ, अप्रत्याख्यान क्रोध-मान-माया-लोभ, प्रत्याख्यान कोध-मान-माया-लोभ, संज्वलन क्रोध-मान-माया-लोभ। इतना ही नहीं बॉर्डर पर रहने वाली

सेना है हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद ये नौ नोकषाय हैं, इनके माध्यम से भी आस्रव होता है।

महानुभाव! सिर्फ और सिर्फ हमें उस मोह से बचना है। मोह से बचने का नाम है आस्रव से बचना और जो मोह से नहीं बच सकता है; उसके जीवन में आस्रव होता ही होता है। अब उस प्राणी को आस्रव भावना में ये चिंतवन करना है कि मेरी आत्मा रूपी सेना का घात करने वाले शत्रु कहाँ-कहाँ से आ रहे हैं। आत्मा के गुणरूपी सेना का घात अविरति भी करता है। इधर से कषायों की सेना आ रही है वह भी मेरी आत्मा की गुण रूपी सेना को नष्ट कर रही है, इधर से देखता हूँ तो प्रमाद भी आता है, वह प्रमाद रूपी शत्रु की सेना भी गुणों को नष्ट करती है। इधर से देखता हूँ तो योग, जब मोहनीय कर्म का प्रभाव योग पर पड़ता है तो योग भी घातक हो जाता है। यदि मोह का प्रभाव योग पर नहीं पड़े तो योग उतना घातक न हो और सामने से ललकारता है मिथ्यात्व। ऐसे में आत्मा इन सभी के बीच में फँस जाता है। मिथ्यात्व के कारण तो यह आत्मा इतना घबरा जाता है कि उसे होश ही नहीं रहता कि मुझे क्या करना चाहिए, क्या नहीं और पुनः सभी मिलकर के इस आत्मा को बंधन में डाल देते हैं।

द्रोपदी जब कुछ भव पूर्व नागश्री थी तब मिथ्यात्व के तीव्र प्रभाव से उसने भयंकर कर्मों का बंध किया।

अंगदेश की चंपापुर नगरी में ब्राह्मण सोमदेव व सोमिला की पुत्रवधु नागश्री थी। जिसे मिथ्यात्व रूपी सर्प ने डँसा हुआ था। एक दिन धर्मरुचि मुनिराज सोमदेव ब्राह्मण के यहाँ आहार के लिए आए। सोमदेव ने उनका भक्तिपूर्वक पड़गाहन किया, किन्तु किसी कार्यवश उन्हें अन्यत्र जाना पड़ा था अतः नागश्री को मुनिराज के आहारदान की विधि समझा दी। किन्तु उस नागश्री ने क्रोधोन्मत्त हो मुनिराज को आहार में विष मिलाकर दे दिया। इस तीव्र पाप के फलस्वरूप कुष्ठ रोग से पीड़ित होकर वह छठवें नरक में गई। वहाँ से निकलकर दृष्टिविष जाति की सर्प हुई। पुनः मरण कर नरक में गई, तीन सागर तक दुःखों को भोगकर, अनेक बार त्रस व स्थावर योनियों में जन्म ग्रहण कर पुनः चांडालिनी हुई। वहाँ समाधिगुप्त मुनिराज से धर्मोपदेश सुन मद्य-माँसादि के परित्याग का संकल्प किया एवं मृत्यु को प्राप्त कर चंपानगरी में सुबन्धु नाम के धनिक वैश्य की दुर्गन्धा नाम की पुत्री हुई।

देह दुर्गन्ध के कारण कोई उसके निकट नहीं आना चाहता था। पति भी विवाह के अगले दिन प्रातःकाल ही घर छोड़कर चला गया क्योंकि उस दुर्गन्ध के कारण उसके साथ रहना संभव नहीं था। भारी दुःखों से पीड़ित होकर वह अपने पिता के घर रहने लगी। एक दिन आर्यिका की संगति पा उसने आर्यिका दीक्षा ग्रहण की व उन्हीं के साथ अनेक स्थानों पर तप करती हुई विहार करने लगी।

एक दिन बसन्तसेना नाम की एक वेश्या पाँच कामी पुरुषों के साथ वन में आयी। उसके वैभव-विलास को देखकर दुर्गन्धा के चित्त में ऐसी भावना उत्पन्न हुई कि कहीं वह भी ऐसी ही हो जाती, किन्तु तत्काल ही उसको इस क्षणिक कलुषित विचार के लिए पश्चाताप भी हुआ। वह अपने हृदय को पाप-वासना की ओर आकृष्ट हो जाने के लिए धिक्कारने लगी। संयमपूर्वक संन्यास धारण कर प्राणों को त्यागकर कर अच्युत स्वर्ग में गई। वहाँ से वह देवी च्युत होकर द्रोपदी हुई। उसने पूर्वभव में समिति, गुप्ति, व्रत व उत्तमोत्तम भावनाओं के पालन द्वारा जो अपार पुण्यार्जन किया था, उसी के प्रभाव से द्रोपदी को अलौकिक सौन्दर्य एवं भोग-विलास की विविध सामग्रियाँ प्राप्त हुईं एवं वेश्या को पाँच कामी पुरुषों के साथ देखकर उसके चित्त में जो क्षणिक कलुषित भावना उत्पन्न हुई थी, उसी के कारण उसका अपयश हुआ एवं पंचभर्ता (पाँच पतियों वाली) कही गई।

महानुभाव! व्यक्ति शारीरिक चेष्टा, मन के भाव, विचार व वचन द्वारा जिन कर्मों का आस्रव आत्मा में करता है उनका फल उस ही जीव को भोगना पड़ता है। पाप करना आसान है किन्तु उसका फल भोगना बहुत ही कठिन होता है, पुण्य करना कथंचित् कठिन है किन्तु उसका फल भोगना बहुत सरल होता है।

वेदवती की पर्याय में सुदर्शन मुनि व सुदर्शना आर्यिका, जो गृहस्थावस्था में भाई-बहन थे, को चर्चा करते देख

उनकी निंदा की जिसके फलस्वरूप सीता की पर्याय में उसका भी लोकापवाद हुआ। कनकोदरी की पर्याय में 22 पल के लिए श्री जिनेन्द्र देव की मूर्ति छिपाने से ऐसे कर्मों का आस्रव हुआ कि बाईस वर्ष तक पति का वियोग सहना पड़ा। अज्ञानवश इन्हीं कर्मास्रव के कारण आत्मा बंधनबद्ध रहकर संसार का दु:ख भोगती है।

महानुभाव! आप जानते हैं आस्रव का अर्थ है द्वार। आचार्यों की व्याख्या करने की अलग-अलग-प्रवृत्ति रही है। आस्रव के तीन मुख्य कारण बताये-'कायवाङ्मन: कर्मयोग:' शरीर, वचन, मन इन तीन पाइपों के माध्यम से पानी आ रहा है। वह कर्म वर्गणाएँ जो आती हैं उन्हें आत्मा इन तीन के माध्यम से ही ग्रहण करती है। आत्मा मिथ्यात्वरूपी अति दुर्गंधित विषैले रसायन युक्त मिट्टी में पड़ी है। एक पाइप से गंदा पानी, दूसरे से बदबू वाला पानी और तीसरे से तेजाब युक्त पानी आ रहा है इस तरह पानी जब तीनों पाइपों के माध्यम से आता है तो कीचड़ पैदा होती जाती है। यदि मिथ्यात्व की कीचड़ वहाँ से नष्ट हो जाए और सम्यक्त्व प्राप्त हो जाए तो समझिये जो अन्य कषायादि हैं, जो कीचड़ आ रही है वह इतनी हानिकारक नहीं होगी।

जिस स्थान पर व्यक्ति पड़ा हुआ है वह दलदल बन गया है। पानी ने मिट्टी को दलदल बना दिया है। पानी दलदल नहीं बनता यदि अकेला पानी ही पानी हो, मिट्टी यदि नहीं

होगी तो दलदल नहीं बनेगी। और मिट्टी है तो गिरते ही पानी से दलदल होगी। हमारे पास जब तक मोहनीय कर्म की सत्ता है, मोहनीय कर्म का बंध, मोहनीय कर्म का उदय है तब तक योग हमारी आत्मा के लिए, इस मोह को दलदल बना देता है। आत्मा इस दल में, दलदल की तरह फँस जाती है, पानी बरसता जाता है तो कीचड़ और गहरी होती जाती है। आत्मा उसमें धंसती चली जाती है। या तो योगों की प्रवृत्ति कम हो जाए तो कीचड़ सूखने लगे या कीचड़ हटाकर दूर कर दी जाए तो पानी से वह धुल जाएगी। इस प्रकार से भी हम आस्रव को समझ सकते हैं।

दूसरी बात ये भी समझ सकते हैं—जैसे कोई व्यक्ति नाव में बैठकर के जा रहा हो उस नाव में छेद हो गए, पाँच छेद हैं; बड़ा वाला छेद है उसका नाम मिथ्यात्व है, दूसरे छेद का नाम अविरति है, तीसरे छेद का नाम प्रमाद है, चौथे का नाम कषाय है, पाँचवें का नाम योग है। ये पाँच छेद हैं। मिथ्यात्व का जो बहुत बड़ा छेद है सबसे पहले उस पर बड़ी सी तस्तरी ढांकना चाहिए जिससे जहाँ से ज्यादा पानी आ रहा हो यदि वह पानी नहीं रोका जाएगा तो नाव बहुत जल्दी डूब जाएगी। फिर चार छोटे छेद बचे, मिथ्यात्व पर नियंत्रण करते ही इन चारों पर जल्दी से काबू पाया जा सकता है। जब तक मिथ्यात्व के छेद को बंद नहीं किया जाएगा तब तक कषाय, योग, प्रमाद, अविरति के छेदों को बंद नहीं किया जा सकता।

महानुभाव! नाव के जब पाँचों छेद बंद हो जाते हैं तो नाव द्रुत गति से बढ़ती चली जाती है किनारे की ओर। और नाव का किनारे की ओर चले जाना ही कहलाता है आस्रवों का रुक जाना।

इसी बात को कवियों ने, आचार्यों ने कहा–

पन मिथ्यात्व योग पंद्रह, द्वादश अविरति जानो।
पंच अरु बीस कषाय मिलें सब सत्तावन मानो॥

ये 57 आस्रव के द्वार हैं। विस्तार से देखें तो इन आस्रव के द्वारों को हम समझने की चेष्टा करें। जब तक आस्रव के द्वारों को नहीं जानेंगे तब तक आत्मा की रक्षा नहीं की जा सकती, जब तक युद्ध क्षेत्र में हमें ये ज्ञात न होगा कि हमारे शत्रु किस-किस दिशा से वार कर सकते हैं तब तक हम अपनी सुरक्षा नहीं कर सकते। आस्रव भावना का केवल इतना ही आशय है कि हम ये देख लें, ये जान लें कि शत्रु कहाँ-कहाँ से वार करते हैं। यह देख करके ही व्यक्ति अपनी सुरक्षा कर सकता है।

तो आस्रव भावना में हमें यही चिंतवन करना चाहिए कि हमारी आत्मा संसार में क्यों पतित हो रही है। यदि आस्रव भावना समझ में आ गई तो बंध को समझने में देर नहीं लगेगी। आस्रव कारण है, बंध उसका कार्य है; इसलिए बंध भावना अलग से नहीं कही, आस्रव में ही बंध समाविष्ट हो जाता है; कारण में कार्य का उपचार करने से। आज आस्रव भावना के बारे में चर्चा की, आज बस इतना ही।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

आस्रव भावना संबंधित उपयोगी श्लोक व गाथाएँ

आत्मा नु चेतोविवरेण तेन गृह्णात्ययं कर्म सहेन्द्रियेण।
तथाम्बु नः छिद्रमतिस्तथैव प्रयोगएवंपरिचिन्तनीयः॥31/92॥

—वरांग च., आ. जटासिंहनन्दि जी

इस शरीर से संबद्ध आत्मा मन रूपी मुक्के के द्वारा पाँचों इन्द्रियों की सहायता पाकर नये-नये शुभ तथा अशुभ कर्मों को ग्रहण करता है, जैसे कि छिद्र पाकर जल भरी नौका में प्रवेश करता है उसी प्रकार कर्मों का आत्मा में आना होता है।

वार्धेरन्तः समादत्ते यानपात्रं यथा जलम्।
छिद्रैर्जीवस्तथा कर्मयोगरन्ध्रैः शुभाशुभैः॥120॥

—ज्ञाना., आ. शुभचंद्र स्वामी

जिस प्रकार नाव या जहाज छेदों के द्वारा जल को भीतर ग्रहण किया करती है उसी प्रकार जीव शुभ और अशुभ योगरूप छेदों के द्वारा कर्म को ग्रहण किया करता है।

पारंपज्जाएण दु, आसवकिरियाए णत्थिणिव्वाणं।
संसारगमण कारणमिदि णिंदं आसवो जाण॥59॥

—बा.अ.,आ. कुंदकुंद स्वामी

परम्परा से भी आस्रव रूप क्रिया के द्वारा निर्वाण नहीं होता, आस्रव संसारगमन का ही कारण है इसलिए निंदनीय है, ऐसा जानो।

जीवपोतो भवाम्भोधौ मिथ्यात्वादिकरन्ध्रवान्।
आस्रवति विनाशार्थे कर्माम्भः सुचिरं भ्रमात्॥6/51

—प. पंच., आ. पद्मनन्दि जी

संसाररूपी समुद्र मे मिथ्यात्वरूपी छेदों से संयुक्त जीवरूपी नाव भ्रम (अज्ञान परिभ्रमण) के कारण बहुत काल से आत्मविनाश के लिए कर्म रूपी जल को ग्रहण करती है। दु:ख का कारण कर्मों का आस्रव है।

जम्मसमुद्दे बहुदोसवीचिए दुक्खजलभराइण्णे।
जीवस्स दु परिब्भमणम्मि कारणं आसवो होदि॥1815॥

—भ.आ., आ. शिवकोटिजी

यह जन्ममरण रूपी समुद्र विविध दोषरूपी लहरों से युक्त है तथा दु:खरूपी जलचर जीवों से भरा है, इस समुद्र में परिभ्रमण का कारण आस्रव है।

मोहविवागवसादो जे परिणामा हवंति जीवस्स।
ते आसवा मुणिज्जसु मिच्छत्ताई अणेय-विहा॥89॥

—का.नु., आ. कार्तिकेय स्वामी

मोह के उदय से जो परिणाम जीव के होते हैं वे ही आस्रव हैं, इसे प्रत्यक्ष रूप से जान। वे परिणाम मिथ्यात्व को आदि लेकर अनेक प्रकार के हैं।

योगः कर्मास्रवं दुष्टो मनो वाक्काय लक्षणः।
यथा भुक्तो दुराहारो विदधाति व्रणास्रवम्॥1924॥

—मरणकंडिका, आ. अमितगति जी

मन, वचन और काय की खोटी चेष्टा रूप योग पापकर्म के आस्रव को करता है, जैसे कि खाया गया खोटा-अपथ्य आहार व्रण-घाव में आस्रव पीव को पैदा करता है।

आस्रवं कुरुते योगो विशुद्धः पुण्यकर्मणाम्।
विपरीतः परंसद्यः सेवितः पापकर्मणाम्॥1925॥

—मरणकंडिका, आ. अमितगति जी

मन, वचन, काय की विशुद्ध शुभ चेष्टा रूप सातावेदनीय आदि पुण्यकर्मों के आस्रव को करता है और इससे विपरीत त्रययोगों की अशुभ चेष्टा रूप सेवित किया गया योग तत्काल पाप कर्मों के आस्रव को करता है।

भय दुःख शताकीर्णे घोरे संसार सागरे।
कर्मास्रवैर्निमज्जन्ति धर्मपोतातिगा जनाः॥55॥

—मूलाचार प्रदीप, आ. सकलकीर्ति जी

जिन मनुष्यों ने धर्मरूपी जहाज को छोड़ दिया है वे कर्मों के आस्रव होते रहने से सैंकड़ों भय और दुःखों से भरे हुए इस घोर संसार समुद्र में अवश्य डूबते हैं।

यावत्कर्मास्रवोल्पोपि कुर्वतामपि सत्तपः।
न तावच्छाश्वत स्थानं किन्तु संसार एवहि॥67॥

—मूलाचार प्रदीप, आ. सकलकीर्ति जी

श्रेष्ठ तपश्चरण करने वाले मुनियों के भी जब थोड़े से कर्मों का भी आस्रव होता रहता है तब तक उनको मोक्ष की प्राप्ति कभी नहीं होती किंतु उनका संसार बढ़ता ही रहता है।

सर्वाशर्मपरम्परार्पणपरं चौरं सुमुक्तिश्रियः,
संसाराम्बुधिमज्जकं मुनिवरैर्ध्यानासिना नाशितम्।

धर्मारामहुताशनं यतिवराः सर्वास्रवं कर्मणां,
दृक्चिद्वृत्तपोभिराशु हि निराकुर्वीध्वमेवादरात्॥15/72

–श्री पार्श्वनाथ चरितम्, आ. सकलकीर्ति जी

जो समस्त दु:ख सन्तति के देने में तत्पर है, मुक्तिरूपी लक्ष्मी को चुराने वाला है, संसार सागर में डुबाने वाला है, मुनिराजों ने ध्यानरूपी खड्ग के द्वारा जिसका नाश किया है और जो धर्मरूपी उपवन को जलाने के लिए अग्निस्वरूप है ऐसे समस्त कर्मों के आस्रव को हे मुनिवर हो! सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप के द्वारा बड़े आदर से शीघ्र ही नष्ट करो।

मिथ्यात्वादि भवोऽप्यनंत भवकृत कर्मास्रवो दु:खद:।5 परि–106

–श्री मल्लिनाथ पु., आ. सकलकीर्ति स्वामी

कर्मों का आस्रव मिथ्यात्व, अविरति आदि कारणों से जायमान है। अनन्तकाल पर्यंत संसार में घुमाने वाला है एवं नाना प्रकार के दु:खों को देने वाला है। इस प्रकार से चिंतवन करना आस्रव भावना है।

आस्रवा इहामुत्रापाययुक्ता महानदी स्रोतोवेग-तीक्ष्णा इन्द्रियकषाया व्रताढ्यः। इत्येवमावदोषानुचिन्तन-मास्रवानुपेक्षा॥ –स.सि., आ. पूज्यपाद स्वामी

आस्रव इसलोक और परलोक में दु:खदायी है। महानदी के प्रवाह के वेग के समान तीक्ष्ण है तथा इन्द्रिय, कषाय और अव्रतरूप है। इस प्रकार आस्रव के दोषों का चिन्तवन करना आस्रव अनुप्रेक्षा है।

कर्माम्भोभिः प्रपूर्णोऽसौ योगरन्ध्र समाहृतैः।
हा दुरन्ते भवाम्भोधौ जीवो मज्जति पोतवत्॥6/37॥

–तत्त्वार्थसार, आ. अमृत.सूरि

कर्मों के भर जाने से जीव संसार में डूबता है। संसार मानो एक समुद्र है। कष्ट है कि समुद्र का कदाचित् अन्त भी लग जाए, परन्तु इसका अन्त कभी नहीं लगता। जीव जहाज के समान है। योगरूप छिद्रों के द्वारा संचित हुए कर्मरूप जल से प्राणी परिपूर्ण हो रहा है, इसलिए समुद्र के समान इस संसार में डूबता है। योग ही आस्रव है, इसी के द्वारा कर्म आते हैं। न कर्म आते और न ही प्राणी डूबता। इस सारे दुःख का कारण योग अथवा आस्रव है।

आस्रवाः कर्मणां जन्तोर्जायन्ते दुःखदायकाः।
मिथ्यात्वपञ्चकै कष्टैरव्रतैर्द्वादश प्रमैः॥10/64॥

कषायैः पञ्चविंशत्या योगैः पञ्चदशात्मकै।
भग्न नौरिव जीवोऽसौ नीयते तै रसातलम्॥10/65॥

–श्रीपाल चरित्र, आ. सकलकीर्ति स्वामी

आस्रव का अर्थ है आना अर्थात् आत्मा में कर्मों का प्रविष्ट होना। आस्रव के कारण हैं–5 मिथ्यात्व, 12 अविरति, 25 कषाय तथा 15 योग। ये आस्रव ही दुःख को देने वाले हैं। जिस प्रकार नाव में छेद हो जाने से नाव में पानी भर जाता है और धीरे-धीरे वह नाव को डुबो देता है उसी प्रकार उपयुक्त मिथ्यात्वादि सत्तावन, आत्मा रूपी नौका के छिद्र हैं। इनसे कर्म आकर आत्मा को संसार सागर में डुबो देता है, इस प्रकार चिंतन करना आस्रव भावना है।

णियमेण भवकारणं मुणेदव्वोकम्मासवो बंधो।
णो को वि सिव-कारणं आसवस्स सव्वहेदूसुं॥150॥

–अणुवेक्खा–सारो, आ. वसुनंदी मुनि

कर्मों के आस्रव व बंध को नियम से संसार का कारण जानना चाहिए। आस्रव के सभी हेतुओं में कोई भी मोक्ष का कारण नहीं है, इस प्रकार का चिन्तवन करना आस्रव भावना कही गई है।

मणवयणकायजोया जीव पयेसाण फन्दण विसेसा।
मोहोदएण जुत्ता विजुदा विय आसवाहोंति॥

–यशोधर चरित्र, पुष्पदंत कवि

मन–वचन और काय योग हैं वे ही आस्रव हैं। ये योग जीव के प्रदेशों का चंचलत्व विशेष है। तथा मोह के उदय से अर्थात् मिथ्यात्व व कषाय सहित हैं तथा मोह के उदय से रहित भी है। इस प्रकार से चिन्तवन करना आस्रव भावना है।

कायवाङ्मनसयोग भेदवानास्रवो भवति पुण्यपापयोः।
कर्मबन्धदृढ़ शृंखलश्चिरं संसरत्यसुभृदुग्रसंसतौ॥63/85॥

–हरिवंश पुराण, आ. जिनसेन स्वामी

काययोग, वचनयोग और मनोयोग यह तीन प्रकार का योग ही आस्रव है। इसी के निमित्त से आत्मा में पुण्य और पाप कर्म का आगमन होता है। आस्रव के बाद यह जीव कर्मबन्धन रूप दृढ़ सांकल से बद्ध होकर भयंकर संसार में चिरकाल तक भ्रमण करता है। इस प्रकार से चिंतवन करना आस्रव भावना है।

अज्जा सव्ववत्थाइ,
अभक्खं भोयणं सया उज्झेज्ज।
दुग्गदि-कारणमिदं च,
सुगदीइ अहिंसगाहारो॥14॥

आर्यों को सभी अवस्था में सदा अभक्ष्य भोजन का त्याग करना चाहिए। यह दुर्गति का कारण है और अहिंसक आहार सुगति का कारण है।

(आ. वसुनंदी मुनि, अहिंसगाहारो)

४.

संवर अनुप्रेक्षा

ज्ञानी ढाँके छेद जब, जल प्रवेश ना होय।
हो निरोध आस्रव जहाँ, संवर मानो सोय॥
संवर मानो सोय, भावना समिति गुप्ति व्रत।
परिषह है द्वयबीस, धर्म दश धारो नित-नित॥
कहें सूरि वसुनंदि, भावना भा निज ध्यानी।
गहि सत्तावन भेद, श्रमण तू बन जा ज्ञानी॥

सतगुरु देय जगाय, मोह-नींद जग उपशमै
तब कछु बनै उपाय कर्म-चोर आवत रुकै

संवर अनुप्रेक्षा

महानुभाव!

विगत दिन सुन रहे थे आस्रव अनुप्रेक्षा के संबंध में। आस्रव का अर्थ देखा था, बहकर के अपनी ओर आना। कर्मों का बहकर आत्मा की ओर आना आस्रव है। और जहाँ-जहाँ आस्रव होता है वहाँ-वहाँ बंध होता है इसलिए बंध अनुप्रेक्षा अलग से नहीं कही। कारण का कथन करने से कार्य अपने आप पकड़ में आ जाता है। आस्रव के बिना कभी बंध नहीं होता और आस्रव होने पर बंध नियम से होता है। बंध चार प्रकार का होता है प्रकृतिबंध, प्रदेशबंध, स्थितिबंध और अनुभागबंध। प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध यह योगों के माध्यम से होता है, स्थितिबंध और अनुभागबंध कषाय के माध्यम से होता है। योग और मोहनीय कर्म ये दोनों ही मिलकर के आत्मा को संसार में परिभ्रमण कराते हैं। इन दोनों के माध्यम से ही आस्रव होता है, इन दोनों के माध्यम से ही बंध होता है। बंध के प्रत्यय भी आपने देखे कषाय और योग हैं। योग वही घातक होता है जो योग मोहनीय कर्म से सहित है। मोहनीय कर्म से रहित योग आत्मा के लिये घातक नहीं होता, कर्म आते भी हैं तो चले जाते हैं। मनीषियों ने लिखा है मोहनीय कर्म से रहित व्यक्ति के आस्रव के संबंध में-''सूने घर का पाहुना, ज्यों आवे त्यों जाए''। कषाय के माध्यम से स्थिति और अनुभाग बंध होते हैं वहीं घातक होते हैं।

कषाय मोहनीय कर्म का ही एक भेद है। मिथ्यात्व, कषाय, नोकषाय आदि सब उसी के भेद हैं। तो एक शब्द में कहें कि मोहनीय कर्म आस्रव का भी कारण है और प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से कहो तो बंध का भी कारण है; इसलिए आस्रव को समझ लेना ही बंध को समझ लेना है। आस्रव front है तो बंध उसका back, आस्रव बाह्य आवरण है तो बंध उसका अंतरंग का कलेवर। आस्रव कहिए तो वह धारा है जो दूर से, सामने से सबको दिखाई देती है, बंध है अंतरंग की सूक्ष्मक्रिया-प्रवृत्ति। इसलिए आस्रव भावना के बारे में समझना जरूरी था क्योंकि बंध को ऐसे बंद नहीं किया जा सकता। बंध को बंद करने का यदि कोई उपाय है तो आस्रव को समझकर के आस्रव को रोक लेना है। आस्रव रुक जाएगा तो बंध रुक जाएगा। बंध खतरनाक है। बंधे हुए कर्मों का संक्रमण किया जा सकता है, उत्कर्षण किया जा सकता है, अपकर्षण किया जा सकता है, उदीरणा की जा सकती है, किन्तु उसको अब रोका नहीं जा सकता। बंध गया सो बंध गया। अथवा उदय में लाकर भोगा जा सकता है, किन्तु आते हुए कर्मों को रोका जा सकता है इसलिए बंध अनुप्रेक्षा अलग से कहने की आवश्यकता नहीं पड़ी किंतु आते हुए कर्मों को रोका जा सकता है इसलिए संवर अनुप्रेक्षा कही।

युद्ध क्षेत्र में जो शत्रु आ गये हैं उनसे तो युद्ध करना ही चाहिए किन्तु जो शत्रु युद्ध क्षेत्र की ओर आ रहे हैं उन्हें वहीं की वहीं सेना की टुकड़ी भेजकर के रोक देना चाहिए; जिससे पर्वत को पार कर वे युद्ध क्षेत्र तक आ ही

न पाएँ। उन्हें बीच में रोक देना ही सबसे बड़ी बुद्धिमत्ता है। अतः आस्रव को रोक देना ही बुद्धिमत्ता है। इसलिए आस्रव अनुप्रेक्षा का बहुत गहन चिंतन करना चाहिए। यदि आस्रव अनुप्रेक्षा समझ में आ गई तो फिर उसे बंध से नहीं डरना चाहिए। बंदूक की गोली जब तक बंदूक से बाहर रखी है तब तक वह तुम्हारा घात नहीं कर सकती और जब वह बंदूक में आ जाएगी और छोड़ी जाएगी तब वह तुम्हारा घात करेगी। वो बंदूक में भरी हुई गोली भी बंदूक के साथ में रखें तब भी घात नहीं करेगी, बंदूक को तोड़कर के फेंकने की आवश्यकता नहीं है, आवश्यकता है चलाने वाले व्यक्तियों को बंधन में डालने की। अर्थात् जो कर्मों का बंध हो रहा है उससे डरने की, घबराने की आवश्यकता नहीं है, जिनसे बंध हो रहा है उन कारणों को नष्ट कर दीजिए बंध अपने आप नष्ट होता चला जाएगा और जो बंधे हुए कर्म हैं उन्हें पुनः बाद में निर्जरा के माध्यम से नष्ट किया जा सकता है। पहले आते हुए कर्मों को रोकें।

सूर्य के माध्यम से कोई बर्तन गर्म हो गया था, उस बर्तन को तो बाद में ठंडा कर लिया जाएगा, शरीर तप रहा है उसके लिये बाद में प्रयास किया जाएगा; उससे पहले धूप जहाँ से आ रही है उस धूप को रोकने का प्रयास किया जाएगा। जंगल में आग लगी है, आग जहाँ से सुलगती हुई आ रही हो; उस रास्ते को वहाँ से रोको, उसके बाद में लगी हुई आग को बुझाया जा सकता है।

अब हम चर्चा कर रहे हैं आस्रव से बिल्कुल लगी हुई है संवर अनुप्रेक्षा। बंध तो आस्रव के साथ ही है आपने

देखा कि front को देखें तो आस्रव दिखाई देता है, back को देखें तो बंध दिखाई देता है। एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। यदि तत्त्व की अपेक्षा से कहें तो आस्रव तत्त्व अलग है, बंध तत्त्व अलग है, किन्तु यूँ मोक्षमार्गी जब चिंतन करता है, मोक्षमार्ग में बढ़ता है तो पुनः आस्रव और बंध को एक साथ लेकर चलता है और संवर के साथ निर्जरा को ले लेता है। मोक्षमार्ग का कथन है इसलिए संवर और निर्जरा को अलग-अलग करके ही चलता है क्योंकि उसने शत्रुओं को दूसरी ओर एक मार्ग पर रोक दिया था किन्तु यहाँ पर अभी जो शत्रु हैं उनको पकड़ कर बाँध लिया। अन्य शत्रु अब आ नहीं पायेंगे; इसलिए उन पर आराम से विजय प्राप्त कर सकते हैं।

किन्तु शत्रु निर्जीव कैसे करना है उसके लिये दो प्रकार से नीतियाँ बनाना चाहिए। वह ऐसे करेगा जिसे नाला बनाकर मार्ग में ही रोका है वह है संवर और जो शत्रु आ गये हैं उनमें से एक-एक को पकड़ कर बंधन में डालते जाओ ये होती है निर्जरा। अथवा उन कर्म रूपी शत्रुओं को विवश करना, कर्म रूपी शत्रुओं का हनन करना, कर्म रूपी शत्रुओं का निराकरण करना यह कहलाती है निर्जरा।

संसार के प्रत्येक व्यक्ति का एक स्वभाव है जब-जब भी उसके पास कोई भय दिखाई देता है वह सिकुड़ना शुरू हो जाता है। ठंडी लगी तो सिकुड़ता है, कोई सामने से हिंसक जानवर आ जाए तो छिपने का, सिकुड़ने का प्रयास करता है। व्यक्ति जब-जब भी पाप कर्म का उदय आता है तो सिकुड़ता है और पुण्य का उदय आता है तो फैलता

जाता है। पाप में सिकुड़न है और पुण्य में फैलाव। जब-जब भी व्यक्ति को कोई उपलब्धि होती है तो वह फैलता चला जाता है और जब-जब भी व्यक्ति के पाप का उदय आता है, सिकुड़ता चला जाता है।

आपने देखा होगा बारिश होती है तो व्यक्ति क्या करता है? वह पूरी बारिश को रोकने का प्रयास नहीं करता अपितु अपने ऊपर छाता लगाकर के स्वयं की रक्षा करता है। इसी प्रकार से आपने देखा होगा कछुआ की विशेषता होती है जब उसे सामने से कोई भय या शत्रुता का प्रतीक दिखाई देता है तो अपने अंगोपांगों को संकोच कर लेता है, और बैठ जाता है। जब खतरा टल जाता है तो पुनः शरीर को फैलाकर बाहर आ जाता है।

संकुचित होने का आशय है संवरण कर लेना, सिकोड़ लेना, छिपा लेना! किसको? अपनी आत्मा को। जैसे पहले कभी-कभी डाकू आते थे, लूटपाट करते थे तो ग्राम-नगरवासी अपने बच्चों को छिपा लेते थे, उनको बचाते थे। ऐसे ही अपनी आत्मा को बचाना है, छिपाना है। कहाँ छिपाना है? संवर के दृढ़ कपाटों के पीछे छिपाना है। छिपाना है उस आवरण के पीछे जिस आवरण को आस्रव भेद नहीं पाये, जिसको कर्म के तीर भेद नहीं पायें। ऐसा कवच आत्मा पर धारण करना है, जिस कवच का भेदन कर्म भी नहीं कर पायें। कौन से हैं वे कवच-

पंचमहाव्रत समिति गुप्ति कर वचन-काय-मन को,
दशविध धर्म परीषह बाईस बारह भावन को।

ये सब भाव सतावन मिलकर आस्रव को खोते,
स्वपन दशा से जागो चेतन कहाँ पड़े सोते॥

तुम क्यों सोये हुए पड़े हो, अपनी इस सुषुप्तावस्था से जाग जाओ, नहीं तो सोते-सोते स्वप्न आते रहेंगे और स्वप्नों में तुम देखोगे हम राजा बन गये, महाराजा बन गये और तीन लोक के नाथ बन गये किन्तु स्वप्न का सुख आत्मा का सुख नहीं है। जो दिवा स्वप्न तुम देख रहे हो, ये तो वास्तव में दुःख है, सुखाभास जैसा प्रतिभासित होता है।

पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति, दस धर्म, बाईस परीषहजय, पाँच प्रकार का चारित्र और 12 प्रकार की अनुप्रेक्षा इनके माध्यम से संवर होता है, आत्मा की रक्षा होती है। महानुभाव! संवर के लिए कहा मिथ्यात्व के द्वार को सम्यक्त्व से बंद करो, अविरति के द्वार को व्रतों से बंद करो, प्रमाद के द्वार को निष्प्रमाद अवस्था से बंद करो, कषाय के द्वारों को निष्कषायता से बंद करो और योगों के द्वार को अयोगी अवस्था को प्राप्त करके बंद करो। ये सभी संवर के कारणों में मुख्य रूप से दिया।

'सगुप्ति समिति धर्मानुप्रेक्षा परीषहजयचारित्रैः।

'आस्रवनिरोधः संवरः' आस्रव को रोकना ही संवर है। सर्वप्रथम गुप्ति के माध्यम से बस तीन परकोटे खींच लो, तीन परकोटों को भेदकर के आत्मा तक कोई शत्रु नहीं आ पाएगा। सबसे पहला परकोटा आत्मा के बिल्कुल समीप है जिसका नाम है मनोगुप्ति, उसके बाहर वाला परकोटा जिसका नाम है वचन गुप्ति, सबसे बाहर वाला परकोटा जिसका नाम है कायगुप्ति। तीन परकोटे वाले किले के

अंदर आत्मा सुरक्षित है। उसके उपरांत आत्मा प्रवृति भी करे तो सावधानी से ये 5 समितियाँ तीन परकोटे के बाहर पहरा दे रही हैं, जिससे परकोटे को कोई भेद न पाये और उसके साथ-साथ जो गश्त लगाकर घूम रहे हैं वे 5 टुकड़ी पाँचों द्वारों पर स्थायी रूप से खड़ी हुई हैं, जिन्हें कहते हैं पाँच महाव्रत। दस-धर्म की सेना और आगे खड़ी है दूर तक दसों दिशाओं में, उसके आगे 12 भावनाओं की टुकड़ी है, उसके आगे 22 परीषह जय की सेना है, उसके आगे 5 प्रकार के चारित्रों की सेना और बहुत ऊँचे-ऊँचे पहाड़ हैं जिन्हें भेदकर के कर्म रूपी शत्रु नहीं आ सकते।

महानुभाव! जब तक जीवन में आस्रव हो रहा है, जब तक आस्रव से नहीं बचा जा सकता तब तक क्या करना चाहिए? एक राजा देखता है कि आगे की टुकड़ी बलिष्ठ सैनिकों की है फिर कमजोर सैनिकों की। ऐसे में पहले बलिष्ठ सैनिकों को मार दिया जाए तो कमजोर सैनिक अपने आप मर जाएँगे अर्थात् बलिष्ठ शत्रु हैं हमारे पाप कर्म उनको पहले रोको और कमजोर शत्रु हैं पुण्यकर्म। पुण्यकर्म ऐसे शत्रु हैं जिन्हें अपनी सेना में convert किया जा सकता है और पाप कर्म ऐसे शत्रु हैं जिन्हें कभी भी अपनी सेना में convert नहीं किया जा सकता। तो जो नहीं किया जा सकता है उनको बिल्कुल समाप्त कर देना ही उचित है। यदि इनमें से एक भी जीवित रहेगा तो बगावत करता रहेगा, न बैठेगा न बैठने देगा। पुण्य भी आत्मा का शत्रु है किन्तु ये शत्रु ऐसे हैं इन्हें आज नहीं तो कल अपनी सेना में मिलाया जा सकता है, ये अपने स्वामी के प्रति बड़े वफादार हैं।

आज उस स्वामी के प्रति वफादार हैं कल यदि हमें अपना स्वामी मान लेंगे तो पुण्य कर्म हमारे वफादार हो जाएँगे।

महानुभाव! पुण्य कर्म अच्छे शत्रु हैं और पाप कर्म निकृष्ट हैं इसलिए सबसे पहले यदि संवर किया जाता है तो पापों का संवर किया जाता है। पुण्य का संवर किया जाना इतना जरूरी नहीं है। पुण्य कर्म का संवर स्वतः हो जाता है और पाप कर्मों का संवर पुरुषार्थपूर्वक करना अनिवार्य है। जो शत्रुता है उस शत्रुता के भाव को मित्रता के भाव में बदल दो अथवा पाप प्रकृतियाँ भी ऐसी हो सकती हैं जिन्हें संक्रमित किया जा सकता है, उन्हें पुण्य प्रकृतियों में संक्रमित कर दो।

संवर के मायने है रोकना। जब वर्षा घनघोर होती है तब जिसके पास छाता होता है वे तो छाता तान लेते हैं, नहीं तो किसी पेड़ की आड़ में बैठ जाते हैं, दोनों घुटनों के बीच में सिर को लगा लेते हैं, वक्षस्थल की सुरक्षा करते हैं। कहीं हृदय तक ठंडा पानी नहीं आये, कहीं ठंडी न-लग जाए और सिर लगाकर के बैठ गए, पीठ के सहारे सब पानी बह गया और जैसे ही बारिश समाप्त हुई पुनः कपड़े निचोड़कर फटकार के खड़े हो गए और फिर चल दिये सीना तान कर के। ऐसे ही जब तीव्र पाप कर्म का उदय आये, तीव्र पाप कर्म सताये उस समय संकोच (संकुचित) होकर बैठ जाओ, बस प्रभु का नाम लेकर, आँख बंद करके बैठ जाओ, मुँह से कोई शब्द न बोलो, मन में कुछ सोचो नहीं और शरीर से कोई चेष्टा मत करो। बस जैसे ही पाप कर्म वर्षा करके निकल जाए फिर पुनः खड़े हो जाओ,

ललकारो अपने शत्रु को और फटकार दो पुनः जाकर के मंजिल तक पहुँच जाओ।

महानुभाव! जिस प्रकार जिस द्वार के किवाड़ बंद हैं उस द्वार से कोई भीतर नहीं जा सकता उसी प्रकार आस्रव का द्वार रुक जाने पर फिर कर्मों का आस्रव नहीं होता। सम्यग्दर्शन मिथ्यात्व के आस्रव द्वार को ढक देता है तथा देशसंयम और सकल संयम रूप व्रतों को ग्रहण करके यह जीव अविरति नामक आस्रव द्वार को ढक देता है जैसे कोई पुरुष द्वार को बंद करके कुंडी लगाकर बाहर से आने वाले चोर आदि को रोक देता है। इस रोकने का नाम ही शुभ संवर है। संवर के लिए आगम में कहा भी है–

जिणसासणस्स सारो, धम्मो जिणुद्दिट्ठो हु भव्वाणं।
धम्म सारो चरित्तं, चरियस्स पाणी संवरो य॥169॥

–(अणुवेक्खा सार)

भव्यों के लिए जिनशासन का सार, धर्म जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहा गया है। धर्म का सार निश्चय से चारित्र है और चारित्र का प्राण संवर है।

महानुभाव! वह संवर सम्यग्दृष्टियों के ही होता है, मिथ्यादृष्टियों के कभी नहीं होता। यह कर्मों के आस्रव को रोकने वाला संवर समिति, गुप्ति और धर्मादिक से होता है, सम्यग्दर्शन की शुद्धता से होता है और सम्यग्दर्शन की शुद्धता से होने वाले निर्मल भावों से होता है। यह मोक्ष प्रदान करने वाला संवर समता आदि शुभ भावों से, चारित्र से, व्रतों से और शुद्धोपयोग से सदा होता रहता है। यह संवर धर्मध्यान से, श्रेष्ठ शुक्लध्यान से, परीषहों के जीतने से और

सम्यग्दर्शन पूर्वक पूजा, दान आदि करने से होता है। यह संवर-निर्जरा का कारण है, कर्मों के नाश का कारण है।

महानुभाव! संवर अनुप्रेक्षा का आशय है कि हम रोकें। किसको रोकें? सबसे पहले खतरनाक शत्रु को रोकें। सबसे पहले गंदा कीचड़ का पानी जहाँ से आ रहा था उस नाले को रोकें। पानी आ रहा है तो पानी को नहीं रोकें, पानी के साथ बहकर जो कीचड़ आ रही हो उस कीचड़ को रोकें। योगों को रोकना पहले जरूरी नहीं है, पहले रोकना है जो मिथ्यात्व की विष्ठा बहकर के आ रही है, फिर कषायों की कीचड़, कंकड, पत्थर, काँच के टुकड़े आदि जो बहकर आ रहे हैं उनको रोको। और क्या करो? यदि पानी नहीं रोका जा सकता तो पहले लगाओ बड़ी-बड़ी जाली। बड़ी-बड़ी जाली से बड़े-बड़े पत्थर रुकेंगे, छोटी जाली से छोटे-छोटे पत्थर रुकेंगे, और छोटी जाली जिसके माध्यम से कीचड़ रुकेगी, काँच के टुकड़े आदि रुकेंगे, फिर आगे चलते-चलते केवल गंदा पानी आ रहा है, अब कूड़ा कचरा-नहीं आ रहा है। अब पानी को प्यूरीफाई किया जा सकता है। कीचड़ रुकती चली जाएगी शुद्ध पानी आता चला जाएगा और शुद्ध पानी घातक नहीं है।

दूसरी बात ये भी है अब मिथ्यात्व की भूमि को छोड़कर थोड़ा बाहर भी तो आ जाओ, तुम क्यों सौगंध खाकर के बैठे हो कि मिथ्यात्व की भूमि पर खड़े होकर मैं मोक्ष को प्राप्त करूँगा। मिथ्यात्व की भूमि पर खड़े होकर कोई भी मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता। मिथ्यात्व के दल-दल से तो निकलना ही पड़ेगा। इस मिथ्यात्व की भूमि को छोड़ो,

ये तुम्हारे शत्रु की भूमि है, इसमें तुम राज्य नहीं कर सकते, इस राज्य को अपना बना तो सकते हो किन्तु इस राजा के किले में रहकर राज्य करना तुम्हारे लिये अच्छा नहीं है। अपने राज्य पर राज्य करो न! तभी तुम्हारा सुयश हो सकता है।

कोई भी राजा अपने राज्य को छोड़कर दूसरों के राज्य पर राज नहीं करता है अन्यथा पराधीन हो जाएगा, कभी भी गुलाम हो सकता है; इसलिए हमें भी अपनी सम्यक्त्व रूपी राजधानी को, सम्यक्त्व रूपी देश को छोड़ना नहीं है। व्रत-महाव्रत आदि को छोड़ना नहीं है। हाँ जो दूसरे हैं उन्हें अपने में convert कर लो। अच्छे राजा की विशेषता तो ये है कि जो देश जीते हैं उन देशों का नाम भी बदल दिया जाता है, उसका नक्शा भी बदल दिया जाता है। ऐसे ही जब ये आत्मा रूपी राजा मिथ्यात्व को जीतता है तो देश का नाम बदल देता है, सम्यक्त्व। अविरति को जीतता है तो व्रती, प्रमाद को जीतता है तो अप्रमत्त, कषाय को जीतता है तो निःकषाय, योग को जीतता है तो अयोगी अवस्था प्राप्त हो जाती है। फिर यह आत्मा सम्यक्त्वादि सेनापति के द्वारा, अच्छे धुरन्धर सैनिकों के द्वारा अन्य शेष सात कर्मों को भी हतप्रभ-नष्ट कर देता है और ऐसा ही नहीं साथ में रहने वाले मोहनीय कर्म के निकटवर्ती मित्र ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय ये तीनों मित्र भी अपने राजा का प्राणान्त सुनते ही अन्तर्मुहूर्त में नष्ट हो जाते हैं। फिर बचे दूर देशवर्ती चार मित्र आयु, नाम, गोत्र, वेदनीय ये अपने राजा की व उनके खास मित्रों की मृत्यु का समाचार सुनते

हैं तो वे आत्मसमर्पण कर देते हैं। और अघातिया कर्म भी शनैः-शनैः नष्ट हो जाते हैं फिर आत्मा रूपी राजा पूर्ण स्वतन्त्र हो जाता है।

महानुभाव! हमें यद्यपि पाप-पुण्य दोनों को रोकना है इसलिए तो कहा है–

जिन पुण्य पाप नहीं कीन्हा, आतम अनुभव चित दीन्हा।
तिन ही विधि आवत रोके, संवर लहि सुख अवलोके॥

जिन्होंने पुण्य और पाप दोनों को छोड़ दिया है वे ही संवर का सच्चा सुख प्राप्त कर पाते हैं। अच्छा तो ये है कि पुण्य और पाप दोनों से मुक्त हो जाओ किन्तु जब तक दोनों से मुक्त नहीं हो रहे तब तक घातक शत्रु से पहले बचो, फिर जो घातक नहीं हो उसको भी बाद में परास्त कर दो। पुण्य-पाप दोनो ही हमारे शत्रु हैं, उन दोनों को ही भगा दो इससे आत्मा अपने स्वराज्य को प्राप्त करने मे समर्थ हो सकता है। स्वराज्य को प्राप्त करना हमारा अनाधिनिधन, जन्मसिद्ध, मृत्युसिद्ध, प्रत्येक समय सिद्ध पूर्ण अधिकार है। हमें उस अधिकार को प्राप्त करना है। किन्तु कोई भी अधिकार कर्तव्यों का पालन किये बिना प्राप्त नहीं होते इसलिए संवर के माध्यम से अपने कर्तव्यों का पालन करना है। गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय, चारित्र इन सभी के माध्यम से हमें अपनी आत्मा का वैभव भोगना है। फिर अनंत शाश्वत वैभव को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना है, यही संवर भावना का आशय है। आज बस इतना ही।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

संवर भावना संबंधित उपयोगी श्लोक व गाथाएँ

संस्तम्भ्य चेतोविवरं यथावत्तथेन्द्रिय द्वारमथो विधाय।
स्यात्संवृतस्याश्रवसंनिरिधो नावौ यथा वारिणि संवृतायाम्॥31/93॥

–वरांग च., आ. जटासिंहनन्दि जी

यदि मन रूपी बड़े मुख को तत्परता के साथ भर दिया जाए तथा पाँचों इन्द्रियों रूपी छेदों को विधिपूर्वक ढक दिया जाए तो आत्मा भली-भाँति सुरक्षित हो जाएगा, और जब वह संवृत हो ही गया तो कोई कारण नहीं कि उसका आस्रव बन्द न हो क्योंकि ज्यों ही नौका के छिद्र मूँद दिये जाते हैं त्यों ही पानी की एक बूँद भी उसके भीतर नहीं आ पाती है।

असंयमभयैर्बाणैः संवृतात्मान न भिद्यते।
यमी यथा सुसन्नद्धो वीरः समरसङ्कटे॥131॥

–ज्ञाना., आ. शुभचंद्र जी

जिस प्रकार अपने को कवच से वेष्टित करके अस्त्र-शस्त्रादि से सुसज्जित वीर योद्धा युद्ध के वाणों के द्वारा नहीं भेदा जाता, उसी प्रकार संवर से युक्त होकर गुप्ति एवं समिति आदि से सुसज्जित संयमी पुरुष इस संसार में असंमयरूप बाणों से नहीं भेदा जाता है।

सुहजोगस्स पवित्ती संवरणं कुणदि असुहजोगस्स।
सुहजोगस्स णिरोहो अद्धुव जोगेण संभवदि॥63॥

–बा.अ.,आ. कुंदकुंद स्वामी जी

शुभयोग की प्रवृति अशुभ योग का संवर करती है और शुद्धोपयोग द्वारा शुभयोग का निरोध हो जाता है।

येन कर्मास्रवोरुद्धः संवरो युक्तिभिः कृतः।
तस्यैवेष्ट सुसिद्धिः स्यात्तंविना निष्फलं तपः॥75॥

—आ. सकलकीर्ति, मूलाचार प्रदीप

जिस महात्मा ने युक्ति पूर्वक अपने कर्मों को रोककर संवर धारण किया है उसी के समस्त इष्ट पदार्थों की सिद्धि होती है। उस संवर के बिना तपश्चरण भी सब निष्फल समझना चाहिए।

भासिदो जिणवरेहिं, संवरो मित्तं णिव्वाणस्स खलु।
तेण विणा णो सक्को, सस्सदगुणा लहिदुं-मप्पाण॥153॥

—अणुवेक्खा सारो, आ. वसुनंदी मुनि

संवर जिनवरों के द्वारा निश्चय से निर्वाण का मित्र कहा गया है उसके बिना कोई भी आत्मा के शाश्वत गुणों को प्राप्त करने में समर्थ नहीं है।

आहारो णिज्जराइ, पढमं पदं जो मोक्खमग्गस्स।
तं संवरं विणा णो-समत्थो, अप्पगुणा लहिदुं॥168॥

—अणुवेक्खा सारो, आ. वसुनंदी मुनि

जो निर्जरा का आधार है, मोक्षमार्ग का प्रथम पद है उस संवर के बिना कोई भी आत्मगुणों को प्राप्त करने में समर्थ नहीं है।

तदीयं सफलं जन्म, यदीयं वृत्तमुज्ज्वलम्।
जन्म-मृत्यु-जराकारि-कर्मास्रव-निरोधकम्॥194॥

— मरणकंडिका, आ. अमितगति जी

उसी मानव का जन्म सफल है जिसका उज्ज्वल चारित्र जन्म, मरण, जरा के कारणभूत कर्मों के आस्रव को रोकने वाला है।

कर्मास्रवनिरोधोऽत्र संवरो भवति ध्रुवम्।
साक्षादेतदनुष्ठानंमनोवाक्कायसंवृत्ति॥6/52॥

—प. पंच., आ. पद्मनन्दि जी

कर्मों के आस्रव को रोकना यह निश्चय से संवर कहलाता है। इस संवर का साक्षात् अनुष्ठान मन, वचन और काय की अशुभ प्रवृत्ति को रोक देना ही है।

मिच्छत्तासवदारं रुंभइ सम्मत्त दिढकवाडेण।
हिंसादि दुवाराणि व दढवदफलहेहिं संभंति॥1829॥

—भ.आ., आ. शिवकोटि जी

मिथ्यात्व अर्थात् तत्त्व के अश्रद्धान रूप आस्रव का द्वार सम्यक्त्व रूप दृढ़ कपाटों के द्वारा रोका जाता है और हिंसा आदि आस्रव द्वारों को दृढ़ व्रत रूपी अर्गलाओं से रोका जाता है।

जो पुण विसयविरत्तो, अप्पाणं सव्वदा वि संवरइ।
मणहर विसएहिंतो, तस्स फुडं संवरो होदि॥101॥

—का.नु., आ. कार्तिकेय जी

जो मुनि इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होता हुआ मन को प्रिय लगने वाले विषयों से आत्मा को सदा-हमेशा संवररूप करता है, उसके प्रकट रूप से संवर होता है।

सर्वाघादिनिरोधनोऽसुखहरो मोक्षप्रदः संवरः॥5/106

—श्री मल्लिनाथ पु., आ. सकलकीर्ति जी

संवर समस्त पाप कर्मों को रोकने वाला है, दुःख का हरण करने वाला है तथा मोक्ष प्रदान करने वाला है, इस प्रकार चिन्तवन करना संवर भावना है।

शर्माब्धिं मुक्तिहेतुं निखिलगुणनिधिं स्वर्गसोपान भूतं,
कर्मघ्नं धर्ममूलं ह्यसुखचयहरं सेवितं तीर्थनाथैः।
पोतं संसारवार्धौ भवभयचकिताः संवरं सर्वयत्नात्,
कुर्वीध्वंमोक्षहेतोश्चरणसुतपसा ध्यानरत्नत्रयाद्यैः॥15/81

—श्री पार्श्वनाथ चरित्रम्, आ. सकलकीर्ती जी

जो सुख का सागर है, मुक्ति का कारण है, समस्त गुणों का भण्डार है, स्वर्ग की सीढ़ी रूप है, कर्मों को नष्ट करने वाला है, धर्म का मूल है, दुःख समूह को हरने वाला है, तीर्थंकरों के द्वारा सेवित है और संसार सागर में जहाजस्वरूप है, ऐसे संवर को हे संसार के भयभीत पुरुषों! मोक्षप्राप्ति के लिए ध्यान तथा रत्नत्रय आदि के द्वारा सम्पूर्ण प्रयत्न से प्राप्त करो।

यथा वणिङ्महार्णवे यानपात्र-विवरद्वार जलास्रवपिधाने निरुपद्रव-मभिलषित-देशान्तरं प्राप्नोति तथा मुनिरपि संसारार्णवे शरीर पोत-स्येन्द्रियविषयद्वारकर्मजलास्रवं तपसा विधाय मुक्तिवेलापत्तनं निर्विघ्नं प्राप्नोति इत्येवं संवरगुणाऽनुचितंनं संवराऽनुप्रेक्षा।

—चारित्रसार/चामुडराय जी

जिस प्रकार कोई वैश्य महासागर में चलते हुए जहाज के छिद्रों को या पानी जाने के मार्ग को बंद कर फिर निर्विघ्न रीति से देशांतर पहुँचता है, उसी प्रकार मुनिराज

भी संसाररूपी महासागर में पडे हुए शरीररूपी जहाज में कर्मरूपी जल के आने के कारण ऐसे इन्द्रियों के विषयरूपी द्वारों को तपश्चरण के द्वारा बंद कर निर्विघ्न रीति से मोक्षरूपी महानगर में पहुँच जाते हैं। इस प्रकार संवर के गुणों का चिंतवन करना संवरानुप्रेक्षा है।

यथा महार्णवे नावो विवरपिधानेऽसति क्रमात् स्रतजलाभिप्लवें सति तदाश्रयाणां विनाशोऽवश्यंभावी, छिद्रपिधाने च निरुपद्रवभिलषित देशान्तर प्रापणं, तथा कर्मागमद्वार संवरणे सति नास्ति श्रेयः प्रतिबन्ध इति संवर गुणानुचिन्तनं संवरानुप्रेक्षा।

–स.सि., आ. पूज्यपाद स्वामी

जिस प्रकार महार्णव में नाव के छिद्र के नहीं ढके रहने पर क्रम से झिरे हुए जल से व्याप्त होने पर उसके आश्रय से बैठे हुए मनुष्यों का विनाश अवश्यम्भावी है और छिद्र के ढके रहने पर निरुपद्रव रूप से अभिलषित देशान्तर का प्राप्त होना अवश्यम्भावी है उसी प्रकार कर्मागम के द्वार के ढके होने पर कल्याण का प्रतिबन्ध नहीं होता। इस प्रकार संवर के गुणों का चिन्तवन करना संवरानुप्रेक्षा है।

योगद्वाराणि रुधन्तः कपाटैरिव गुप्तिभिः।
आपद्भिर्न बाध्यन्ते धन्याः कर्मभिरुत्कटैः॥6/38॥

–तत्त्वार्थ सार, आ. अमृतचंद्र सूरि

योग अथवा आस्रवरूप द्वारों को जो किवाड़ के समान गुप्ति द्वारा बंद करते हैं वे धन्य हैं। वे आते हुए कर्मों द्वारा भी बाधित नहीं हो पाते हैं। आने का द्वार ही रुक गया तो

आपत्तियाँ आ कहाँ से सकती हैं इसलिए जो योग द्वारों को रोक देते हैं वे ही कर्मों के जाल से बचते हैं, वे धन्य हैं।

संवरोऽपि भवेन्नित्यं भव्यानां शर्म्मकारणम्।
निर्जितेषु तथा तेषु मिथ्यात्वादिकशत्रुषु॥10/66॥
तस्मात्सर्व प्रयत्नेन जैन तत्त्व विदाम्बरैः
जित्वा नानास्रवानाशु संवरः संविधीयते॥10/67॥

–श्रीपाल चरित्र, आ. सकलकीर्ति जी

आस्रव के हेतु मिथ्यात्वादि का नाश करने से संवर होता है। संवर भी नित्य ही भव्यों के लिए सुख का कारण होता है। इसलिए जैन तत्त्व के जानने वाले पुरुषों को सर्व प्रयत्न से संवर द्वारा नाना कर्मास्रवों को रोकने का प्रयत्न करना चाहिए।

सम्मत्तं देसवयं महव्वयं तह जओ कसायाणं।
एदे संवरणामा जोगाभावो तहच्चेव॥

–यशोधर चरित्र, पुष्पदंत कवि

सम्यक्त्व, देशव्रत, महाव्रत, कषायों का जीतना तथा योगों का अभाव, ये संवर के नाम हैं।

स्याद् द्विधास्रवनिरोधलक्षणः संवरः समिति गुप्तिपूर्वकैः।
संवरे सति सनिर्जरेऽसुभृत्सिद्ध्यति स्वकृतकर्मसंक्षयात्॥63/86॥

–हरिवंश पु., आ. जिनसेन स्वामी जी

द्रव्यास्रव और भावास्रवरूप दोनों प्रकार के आस्रव का रुक जाना संवर है। यह संवर गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय तथा चारित्र से होता है। निर्जरा के साथ-साथ संवर के हो जाने पर यह जीव स्वकृत कर्मों का क्षय कर सिद्ध हो जाता है।

9.

निर्जरा अनुप्रेक्षा

सूखे जल तालाब का, ग्रीष्मकाल के ताप।
त्यों संयम तप त्याग से, मिटे सकल विधि पाप॥

मिटैं सकल विधि पाप, क्रमिक दो जानो भेदा।
समय पाय फल देय, दूसरी तप की मेदा॥

कहें सूरि वसुनंदि, आदि न शिव को ढूँके।
निर्जर दूजी मानि, मोक्ष दे भवदधि सूखै॥

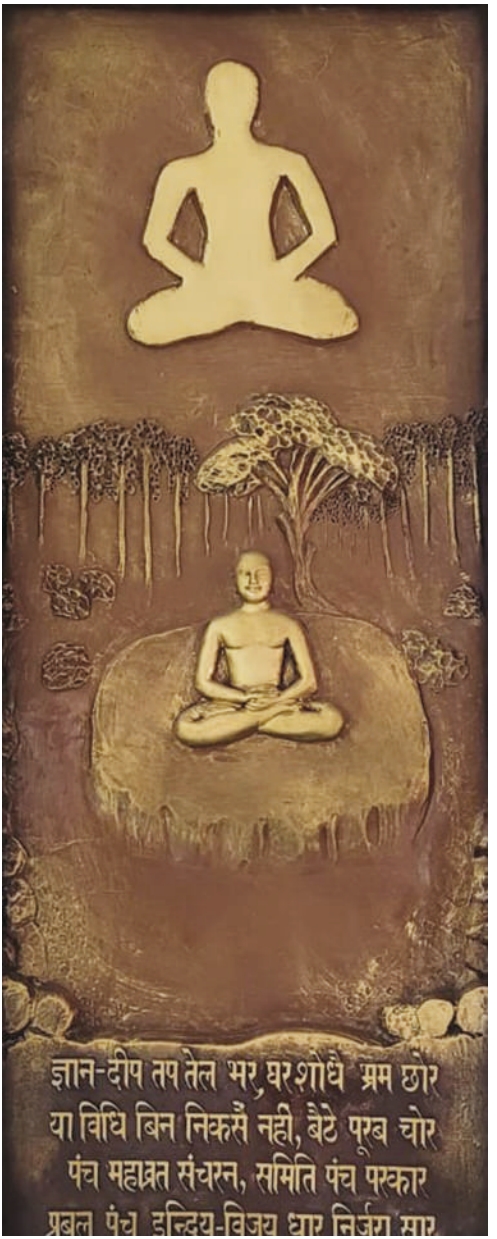
ज्ञान-दीप तप तेल भर, घर शोधै भ्रम छोर
या विधि बिन निकसै नहीं, बैठे पूरब चोर
पंच महाव्रत संचरन, समिति पंच पकार
प्रबल पंच इन्द्रिय-विजय धार निर्जरा सार

निर्जरा अनुप्रेक्षा

महानुभाव!

कर्म हमारी आत्मा के शत्रु हैं, उन शत्रुओं को रोकना आवश्यक है, शत्रुओं को यदि नहीं रोका जाएगा तब निःसंदेह ये हमारा घात ही करेंगे। शत्रुओं को नष्ट करना तो द्वितीय प्रक्रिया होती है प्रथम प्रक्रिया होती है शत्रुओं को रोक देना। और यदि शत्रु आ ही रहे हैं तो उनके लिए रास्ता भटका देना जिससे वे देर से आ पाए या जो घातक शत्रु हैं उन्हें रोककर के रखना, जो कम घातक हैं वो भले ही आ जाए ऐसी प्रक्रिया राजा लोगों के द्वारा की जाती है। आत्मा राजा है, उस आत्मारूपी राजा की सुरक्षा करनी है कर्म रूपी शत्रुओं से। जो कर्म रूपी शत्रु आ रहे थे उन्हें संवर भावना से रोकने का सम्यक् पुरुषार्थ किया, किन्तु फिर भी उस युद्ध क्षेत्र मे बहुत से शत्रु पहले से विद्यमान हैं। माना कि किले में भी शत्रु घुस गए, महल में भी शत्रु आ गए, देश की सीमा मे भी सब जगह शत्रु फैले हुए हैं यद्यपि अब बाहर से शत्रु नहीं आ रहे यह बात निश्चय है किन्तु जो शत्रु आ चुके हैं उनका क्या करना चाहिए। इसके लिये जरा समझने की आवश्यकता है, निर्जरा के संबंध में।

जब तक तुम्हारे जीवन में जरा (बुढ़ापा) आकर जरजर नहीं कर रहा है तब तक निर्जरा कर लेना चाहिए। या तो निर्जरा को प्राप्त हो जाओ नहीं तो तुम जरजर अवस्था को प्राप्त हो जाओगे। संसार के अधिकांश प्राणी जर-जोरू-जमीन

के चक्कर में पड़कर जरजर हो गये। उस जरा ने कितनी बार इस शरीर को जरजर किया है। जरजर शरीर में पड़ी हुई आत्मा भी मानो जरजर अवस्था को प्राप्त हो रही है, इसलिए इस निर्जरा को समझना बहुत जरूरी है। शत्रुपक्ष के जितने भी सैनिक अंदर घुस चुके हैं उन्हें अब कैसे निकाला जाए। कुछ ऐसे सैनिक हैं जो स्वयं ही भाग रहे हैं अपने प्राण बचाकर, हमारे देश की सेना के किसी व्यक्ति का घात नहीं कर रहे। उनमें जो भाग रहे हैं वे तो भाग ही जाएँगे किन्तु जो भाग नहीं रहे हैं उन्हें भी भगाना जरूरी है अर्थात् व्यक्ति के जीवन में दो प्रकार की निर्जरा होती है।

एक निर्जरा जिसे कहते हैं सविपाक निर्जरा, इसका आशय है कर्म का सत्ता में पड़े हुए स्वयं पक जाना, पककर के अपना फल देकर के झड़ जाना। दूसरी निर्जरा होती है अविपाक निर्जरा–जिसका अर्थ होता है कर्म को जल्दी से पका लेना और उसे निर्जीण कर देना। एक फल ऐसा है जो डाली पर लगा हुआ स्वयं पककर के टूट गया और उसमें मिठास आ गई। दूसरा फल ऐसा है जो डाली पर लगा था कच्चा ही तोड़ लिया गया और भूसा-अनाज आदि में दबाकर के उसमें गर्मी ज्यादा देकर के पक गया और मिठास आ गई। फल दोनों ही पके हैं एक पका है लगभग दो महीने में दूसरा पका है एक महीने में। जिसे दो महीने का समय है तो वह उस फल की इंतजारी करता है किन्तु इस मोक्षमार्ग में सविपाक निर्जरा का इतना महत्व नहीं है। जितने फलों को पकाया जाता है समय के अनुसार उससे असंख्यात गुणे कर्म अनपके पड़े रहते हैं और कच्चे-कच्चे

फल निरंतर लगे ही रहते हैं। तो वे पककर के कैसे झरें? सम्पूर्ण कर्मों को झराना तो है ही, ऐसे में जो अपने आप टूटकर गिर रहे हैं वो ठीक हैं किन्तु जो टूट करके नहीं गिर रहे हैं उन्हें भी तोड़कर के अलग कर देना चाहिए। तोड़कर के अलग करने का नाम है अविपाक निर्जरा।

महानुभाव! वह निर्जरा संवर के साथ सार्थक होती है। आते हुए कर्मों को पहले रोकना है ताकि नये कर्म न आयें, फिर उन कर्मों को निकालना है। जैसे किसी व्यक्ति के पैर में फोड़ा हुआ, अपने घाव को ठीक करने के लिए उसने उस फोड़े को फोड़ दिया, उसके अंदर से पस निकल गई। किन्तु ऊपर से मरहम लगायी ऊपर पस और आ गई। सुबह साफ किया तो शाम तक फिर पस भर गई ऐसे वह निकलता जा रहा है और उसमें पस पड़ता जा रहा है वह फोड़ा, ठीक नहीं हो रहा। तो जिससे पस बन रही है, उस घाव के अंदर जो सड़ान फैल गई है उसे निकालना है। कुशल डॉक्टर उस सड़ी-गली चर्बी को, सड़े-गले मांस को एण्टीसेप्टिक के माध्यम से साफ करता है और साफ करके मरहम लगाता है ताकि घाव अंदर से सूखे, अंदर से खून गंदा न हो, वह सड़े नहीं, ऐसा होगा तो घाव ऊपर से सूखना प्रारंभ हो जाएगा। ऐसे ही हमारी आत्मा में जो कर्म रूपी मल संलिप्त है, उसे नष्ट करना है। किसके माध्यम से? आचार्य महोदय कहते हैं–**'तपसा निर्जरा च'** तप के माध्यम से निर्जरा होती है। 'च' शब्द कह रहा है इससे संवर भी होता है। अथवा 'च' शब्द से ऐसा भी ले सकते हैं–

'स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षा परीषहजय चारित्रैः।'

ये जो हेतु दिये थे संवर के इनसे निर्जरा भी होती है और तप के माध्यम से संवर-निर्जरा दोनों होते हैं। तो महानुभाव! वह जो क्रिया कर्मों को सुखाने के लिए, कर्मों को नष्ट करने के लिए की जा रही है वह क्रिया जब तक न की जाएगी तब तक आत्मा कर्मों से मुक्त नहीं हो सकेगी। अब आत्मा में आज आने वाले कर्मों को तो रोक दिया किंतु जो पहले से पड़े हैं उन्हें कैसे नष्ट करना है?

क्या घास की अग्नि से समुद्र के पानी को सुखाया जा सकता है? नहीं। इसी तरह मिथ्यादृष्टि व्यक्ति कभी कोई एक-दो उपवास कर ले, भगवान् की पूजार्चना कर ले या 10-5 माला फेर ले या खड़े होकर सामायिक कर ले तो क्या असंख्यात भवों में भोगे-जाने वाले कर्मों को नष्ट किया जा सकता है? कदापि नहीं। तो सबसे पहले मिथ्यादृष्टि व्यक्ति को सम्यग्दृष्टि बनना चाहिए, फिर अविरति से व्रती बनना चाहिए, पुनः महाव्रती बनना चाहिए, फिर बारह तपों को ग्रहण करना चाहिए, फिर ध्यान की प्रचण्ड अग्नि को प्रज्ज्वलित करना चाहिए क्योंकि घास की अग्नि से समुद्र के जल को न सुखाया जा सकता है न गर्म किया जा सकता है। घास की अग्नि से कटोरीभर पानी तो गर्म हो नहीं सकता किसी समुद्र का जल कैसे सुखाया जाएगा।

आजकल व्यक्ति कहते हैं महाराज श्री! हम गृहस्थ हैं हमारे लिए छह आवश्यक कर्तव्य बताये हैं देवपूजा, गुरुपासना, स्वाध्याय, संयम, तप, दान, तप-संयम तो हमारे

पास भी हैं। अरे भाई! तप और संयम तुम्हारे पास कुछ भी नहीं है। मात्र तुम्हारी भावना है इनका पालन करने की। भगवान् की पूजा, गुरुओं की सेवा और उनके उपदेश को सुनना ही तुम्हारा स्वाध्याय है। शीलादि व्रतों का पालन करना तुम्हारा संयम है, पर्व के दिनों में उपवास करना ये तुम्हारी इच्छनिरोध भावना है। पुनः सत्पात्रों को दान देना यह आपका कर्तव्य है। अभी तपस्या तुम्हारे पास नहीं है, अव्रती के पास तप कहाँ? तप तो संयमी के पास ही होता है। तप तो तपस्वी के पास ही होता है। जब तक तुम्हारा तप कल्याणक नहीं मनाया तब तक तप कैसा? तीर्थंकरों का तप भी दीक्षा के उपरांत ही होता है, दीक्षा को ही तप कहा जाता है। जैनेश्वरी दीक्षा ही तप है, जैनेश्वरी दीक्षा के पहले ग्रहण किया गया तप भावना रूप होता है अथवा एकदेश का भी एक देश होता है, उस देशव्रती के तप के माध्यम से कर्मों का निर्जीणपना नहीं होता, कर्मों का क्षय नहीं होता। देशव्रती अवस्था में कोई भी व्यक्ति कितने ही समय तक बना रहे किन्तु वह कर्म प्रकृतियों को नष्ट करने में समर्थ नहीं होता। ज्यादा से ज्यादा मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व, सम्यक् प्रकृति और अनंतानुबंधी चार कषाय, इन सात प्रकृतियों को नष्ट कर सकता है, क्षायिक सम्यग्दृष्टि बन सकता है, इससे आगे एक प्रकृति को भी नष्ट नहीं कर सकता है,

महानुभाव! आवश्यक है व्रती बनना, महाव्रती बनना। आचार्य महोदय कहते हैं 'वय जुत्ताणं हवे विदिया' दूसरी निर्जरा तो व्रतियों के ही होती है अव्रतियों के नहीं होती।

अव्रती चाहे निरन्तर स्वाध्याय करे, चाहे वह तत्त्व का चिंतन करे, चाहे पूजा-पाठ या अन्य कोई धार्मिक अनुष्ठान करे, उसके माध्यम से सातिशय पुण्य का आस्रव तो हो सकता है, किंचित् संवर भी हो सकता हो किन्तु अविपाक निर्जरा नहीं हो सकती। अविपाक निर्जरा के लिये आवश्यक है वह व्रती-महाव्रती बने। जो व्रती ही नहीं बना, जिसने पापों का त्याग ही नहीं किया अर्थात् आस्रव को रोका ही नहीं, संवर को प्राप्त ही नहीं किया, जिसके जीवन में बहुत बड़ी मात्रा में कर्मों का आस्रव हो रहा है वह व्यक्ति कैसे कर्मों को तपा सकता है। जिस भगोने में पानी आता चला जा रहा है उस पानी को मोमबत्ती से गर्म करने की चेष्टा की जा रही है। क्या उसके गर्म करने से पानी सूख जाएगा? असंभव जैसा लग रहा है। ऐसे ही अव्रती व्यक्तियों के द्वारा किए गए क्रिया-कलापों से कर्मों की अविपाक निर्जरा नहीं होती और सविपाक निर्जरा मोक्षमार्ग में सहकारी नहीं है क्योंकि सविपाक निर्जरा तो सभी प्राणियों के जीवन में होती है, सहजता में कर्म आये पके और निर्जीण होते चले गये। तो कर्मों को निर्जरित करना है। निर्जीण क्यों करना है? क्योंकि–

'कर्म बड़े बलवान जगह में पेरत हैं।'

महानुभाव! उन बड़े-बड़े कर्मों को ऐसे नष्ट नहीं किया जा सकता, उन कर्मों की शक्ति को पहले नष्ट करो। आचार्यों ने सिद्धान्त की भाषा में कहा–मिथ्यात्व को पहले तोड़ो इसके तीन टुकड़े करो मिथ्यात्व-सम्यक्

मिथ्यात्व-सम्यक् प्रकृति। फिर क्रम-क्रम से मिथ्यात्व के द्रव्य को सम्यक् मिथ्यात्व में लाओ पुनः सम्यक् मिथ्यात्व को सम्यक् प्रकृति में लाओ फिर द्रव्य कम होता चला जाए तो उसे नष्ट करो।

महानुभाव! इसी प्रकार चारित्रमोहनीय कर्म की प्रकृतियों के द्रव्य को अनंतानुबंधी को अप्रत्याख्यान में, अप्रत्याख्यान को प्रत्याख्यान में, प्रत्याख्यान को संज्वलन आदि में डालते जाओ पुनः क्रम-क्रम से उसका भी बादर कृष्टिकरण फिर सूक्ष्मकृष्टिकरण करते जाओ, क्रम-क्रम से जब वह कषाय बहुत मंद हो जाए तो उसे नष्ट किया जा सकता है। ऐसे बिना कुछ किये कर्मों को नष्ट नहीं किया जा सकता है। शत्रु यदि सबल हो तो उसके साथ युद्ध करने में सिवाय पराजय के और कुछ भी हाथ नहीं लगेगा और पराजय तो होगी सो होगी शत्रु द्वारा स्वयं भी बंदी बनाये जा सकते हैं। हमारे स्वराज्य को शत्रु भी छीन सकता है। यदि बुद्धि से काम किया जाए अर्थात् शत्रु की शक्ति को क्षीण करते जाओ, इतना क्षीण हो जाए कि शत्रु स्वयं आकर घुटना टेक ले तो शत्रु को बंदी बनाया जा सकता है और शत्रु की शक्ति को क्षीण किये बिना उसके साथ बार-बार मुठभेड़ें करना स्वयं की शक्ति क्षीण करना है।

अतः निर्जरा शब्द इसलिए प्रयोग किया कि हमें कर्मों को पहले शनैः-शनैः निर्जीण करना है। जीर्ण-शीर्ण करना है। 'जरा' शब्द जो दिया है वह बुढ़ापे का प्रतीक है। युवा व्यक्ति अपने आप में बलिष्ठ होता है, निर्भीक होता है,

पराक्रमी होता है, उल्लास से युक्त होता है, किन्तु जब वही व्यक्ति जरा से युक्त हो जाता है तो उसका शरीर काँपने लगता है, वह डगमगाने लगता है, उसके संकल्प और साहस सब जवाब दे चुके होते हैं, तब उस व्यक्ति को कोई भी अपने अधीन कर सकता है; ऐसे ही कर्म जब तक युवावस्था को प्राप्त हैं तब तक कर्म को नष्ट कर पाना बड़ा कठिन है। एक कर्म होता तो नष्ट करने की सोच भी लेते किंतु 148 कर्म प्रकृतियाँ हैं। इतनी ही नहीं असंख्यात लोकप्रमाण उत्तरोत्तर कर्म-प्रकृतियाँ हैं। कर्म मूल में एक है पुनः उसके द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्म तीन भेद हैं। द्रव्य कर्म के घातिया-अघातिया दो भेद हैं। घातिया के 4 भेद, अघातिया के 4 भेद ऐसे 8 भेद हैं। पुनः उन आठ कर्मों की 148 उत्तर-प्रकृतियाँ हैं। उन प्रकृतियों की भी असंख्यात लोकप्रमाण उत्तरोत्तर प्रकृतियाँ होती चली जाती हैं। आत्मा एक, कर्म सेना इतनी सारी। एक अकेला व्यक्ति इतनी बड़ी सेना से लड़े तो लड़े कैसे?

इसका एक ही उपाय है—आत्मा रूपी राजा स्वयं की शक्ति को बढ़ाता जाए और उनकी शक्ति को कमजोर करता चला जाए। महानुभाव! जरा सोच करके चलना है कि हमारे पास जरा न आ जाए। उस जरा के आने से पहले उन सबकी निर्जरा करना है। किसकी निर्जरा करना है? उन कर्मों की निर्जरा करना है जो कर्म हमारी आत्मा से चिपके बैठे हैं। इसके पहले हमने आते कर्मों को रोक दिया तो नये कर्मों का आना तो बंद हो गया संवर के माध्यम से और

जो पुराने बंधे कर्म हैं उन्हें एक-एक करके निर्जीण करते जाना है। जैसे कि एक मोटी रस्सी के पहले उस रस्सी को पानी में भिगोने डाल दिया, इससे वह सड़ गई, उस सड़ी रस्सी को तोड़ा जा सकता है। रस्सी के बंधनों को कमजोर करके तोड़ा जा सकता है, रस्सी को तेल पिलाकर नहीं तोड़ा जा सकता है, तो रस्सी को बल नहीं देना उसकी शक्ति क्षीण करना है। निर्जरा के माध्यम से यही हमें करना है कि समितियों के माध्यम से सावधानी रूप प्रवृत्ति करनी है। यदि संभव नहीं है गुप्तियों का निश्चय में पालन करना, यदि संभव नहीं है उत्कृष्ट ध्यान का पालन करना तो समितियों के द्वारा प्रवृत्ति करो।

निर्जरा का मुख्य मार्ग है निर्वृतिमार्ग। सभी क्रियाओं को छोड़ देना। मानसिक, वाचनिक और कायिक क्रियाओं को छोड़कर आत्मारूपी किले में बैठ जाना। आत्मा रूपी देव को ही निहारना उसी में लीन हो जाना, इस शरीररूपी देहालय की उपेक्षा करके बैठ जाना ही निर्जरा का मुख्य मार्ग है; किन्तु जब तक उसकी प्राप्ति नहीं हो रही तब तक समितियों का, व्रतों का, दस धर्म का पालन करना चाहिए, बारह अनुप्रेक्षाओं का चिंतवन करना चाहिए, 22 परीषहों को जीतना चाहिए, पाँच प्रकार के चारित्र का पालन करना चाहिए इससे वे कर्म निर्जीण होते हैं। इसके माध्यम से कर्मों के बंधन ढीले पड़ते हैं एवं निर्जीण होते चले जाते हैं, फिर तप की अग्नि के माध्यम से वे सब जला दिए जाते हैं।

महानुभाव! यदि जन्म, जरा, मृत्यु से मुक्त होना चाहते हो, संसार के कारणभूत कर्म बन्धनों से मुक्त होना चाहते हो तो उसके लिए कर्मों की निर्जरा आवश्यक है और तप के बिना जीव के कर्मों की निर्जरा नहीं होती है। आचार्यों ने लिखा है–

अग्निना धातुपाषाणो यथाशुद्ध्यतियोगतः।
तथा तपोग्निना भव्यः कृतः संवर निर्जरः॥81॥

–(12वाँ-सर्ग मूला. प्रदीप)

जिस प्रकार अग्नि के द्वारा धातु पाषाण युक्तिपूर्वक शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार तपश्चरण रूपी अग्नि से संवर और निर्जरा को करने वाला भव्य जीव अत्यंत शुद्ध हो जाता है।

सम्यक् तप वह माध्यम है जिसके द्वारा अखिलकर्म निर्जीण होते हैं। जिसका फल अभी जीव को प्राप्त नहीं हुआ ऐसा कर्म तप रूप अग्नि द्वारा भस्मसात् हो जाता है अर्थात् तप द्वारा फल भोगे बिना ही कर्मों की निर्जरा होती है। उस महान् तप के आगे शक्तिहीन हुआ कर्म स्वयं पलायमान हो जाता है, जैसे चिकनाई से रहित स्फटिक पाषाण में धूल नहीं ठहर पाती।

महानुभाव! सविपाक निर्जरा तो प्रतिसमय प्रत्येक संसारी जीव के होती रहती है किन्तु मोक्षमार्ग में सहायी तो अविपाक निर्जरा ही है। इस अविपाक निर्जरा का हेतु अंतरंग व बहिरंग तप है। तप रूपी अग्नि में तपे बिना यह आत्मा सिद्धात्मारूप शुद्ध सुवर्ण नहीं बन सकता, यह अकाट्य नियम है। इसीलिए मोक्ष के कारणभूत और समस्त कर्मों

का नाश करने वाली परमशुद्ध निर्जरा को अपने हृदय में श्रेष्ठ भावों से धारण करना चाहिए।

महानुभाव! हम सभी निर्जराभावना के माध्यम से बस यही भावना भाते चले जाएँ कि हम अपने कर्मों को जलायें। ध्यान रखना कोई भी किसी के कर्मों को जला नहीं सकता। प्रत्येक आत्मा अपने-अपने कर्मों को जलाने में समर्थ व सक्षम है; वह चाहे आज जलाये या कल, दूसरा नहीं जलाएगा और हम भी किसी के कर्मों को नहीं जला सकते इसलिए निर्जरा के बारे में बार-बार सोचो। कर्मों को आने से रोको, जो कर्म बंधे पड़े हैं उनको नष्ट करो तभी हमारी आत्मा का कल्याण संभव है अन्यथा नहीं। संवर के साथ ही निर्जरा सार्थक होती हो इसलिए ज्ञानियों ने संवर को निर्जरा की सहेली कहा है और जिसके पास संवर नहीं है उसके पास निर्जरा सार्थक नहीं होती है। संवर रूपी सहेली के बिना अपनी रमा (मुक्ति) से मिलना कठिन होता है। यदि मुक्ति रूपी सुंदरी को प्राप्त करना हो तो उसकी सहेली से सम्पर्क बनाओ। वह सहेली उस मुक्ति सुंदरी को तुम्हारे पास तक पहुँचाने में समर्थ होगी। इसलिए संवर के साथ निर्जरा करना सार्थक है। निर्जरा के माध्यम से हम परम पद को प्राप्त करने में समर्थ हो सकेंगे। हम, आप सभी के प्रति मंगल भावना रखते हैं कि कर्म निर्जरा कर आप मोक्षफल को प्राप्त हों। इन्हीं सद्भावनाओं के साथ।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

निर्जरा भावना संबंधित उपयोगी श्लोक व गाथाएँ

यथापि दुर्वह्निशिखाभिमर्शान्निमेषमात्रेण सभस्मता स्यात्।
तपोबलात्प्राक्तनकर्महानिस्तथा मुनेः सा खलु निर्जरोक्ता।।

– 31/94–वरांग चरित्र, आ. जटासिंहनन्दि जी

यदि ऊन को किसी प्रकार धधकती हुई अग्नि की ज्वाला की लपटें स्पर्श कर लें तो एक क्षण में ही उसका विशाल ढेर भस्म हो जाता है, इसी विधि से जब मुनि की तप रूपी अग्नि प्रज्ज्वलित हो जाती है तो पहले से बंधे कर्म देखते-देखते ही नष्ट हो जाते हैं इसे ही निर्जरा भावना कहते हैं।

यया कर्माणि शीर्यन्ते बीजभूतानि जन्मनः।
प्रणीता यमिभिः सेयं निर्जरा जीर्णबन्धनैः।।140।।

–ज्ञाना., आ. शुभचंद्रस्वामी जी

जिसके द्वारा संसार के बीजभूत कर्म नष्ट किये जाते हैं उसे कर्मबंध से रहित मुनियों ने निर्जरा कहा है।

सा पुण दुविहा णेया सकाल पक्का तवेण कयमाणा।
चदुगदियाणं पढमा वय जुत्ताणं हवे विदिया।।67।।

–बा.अ. , आ. कुंदकुंद स्वामी जी

वह निर्जरा दो प्रकार की जानना चाहिए–एक अपना उदयकाल आने पर कर्मों का स्वयं पककर झड़ जाना और दूसरी तप के द्वारा किये जाने वाली। इनमें पहली निर्जरा तो चारो गतियों के जीवों की होती है और दूसरी निर्जरा व्रती जीवों की होती है।

रुद्धास्रव महर्षेश्चारित्रम् सद्गुण भागिनः।
तपोभिर्दुष्करेर्मुक्ति जननी निर्जरा भवेत्॥77॥

—आ. सकलकीर्ति-मूलाचार प्रदीप

जिन महामुनियों ने समस्त आस्रव को रोक दिया है और जो चारित्ररूपी श्रेष्ठ गुण को धारण करते हैं उनके कठिन तपश्चरणों के द्वारा मोक्ष को देने वाली निर्जरा होती है।

संवरेण समं यत्नात्तपोभिर्याबुधैः कृता।
विपुला मुक्ति संसिद्ध्यै सा ग्राह्यासर्वनिर्जरा॥80॥मू.प्र.

बुद्धिमान् लोग जो मोक्ष प्राप्त करने के लिए संवर के साथ-साथ तपश्चरण के द्वारा प्रयत्नपूर्वक बहुत से कर्मों की निर्जरा करते हैं उसको सर्वनिर्जरा कहते हैं वह निर्जरा ग्रहण करने योग्य है।

यथा यथामुनीन्द्राणां जायते कर्म निर्जरा।
तथा तथा च मुक्तिस्त्री मुदायाति स्वयं वरा॥82॥मू.प्र.

मुनियों के जैसे-जैसे कर्मों की निर्जरा होती जाती है वैसे ही वैसे स्वयं वरण करने वाली मुक्तिस्त्री प्रसन्न होकर उसके समीप आती जाती है।

निर्जरा शातनं प्रोक्ता पूर्वोपार्जित कर्मणाम्।
तपोभिर्बहुभिः सा स्याद्वैराग्याश्रितचेष्ठितै॥6/53॥

—प. पंच., आ. पद्मनन्दि जी

पूर्व संचित कर्मों का धीरे-धीरे नष्ट करना यह निर्जरा कही गई है। वह वैराग्य के आलम्बन से प्रवृत्त होने वाले

बहुत से तपों द्वारा होती है, इस प्रकार निर्जरा के स्वरूप का विचार करना निर्जरा भावना है।

तवसा विणा ण मोक्खो संवरमित्तेण होइ कम्मस्स।
उपभोगादीहिं विणा धणं णं हु खीयदि सुगुत्तं॥840॥

—भ. आ., आ. शिवकोटि जी

जैसे सुरक्षित धन भी उपयोग बिना नहीं घटता उसी प्रकार तप के बिना कर्मों के संवर मात्र से कर्मों का क्षय नहीं होता अतः निर्जरा के लिए तप करना चाहिए, पूर्व में बद्ध कर्मों के क्रम से क्षय को निर्जरा कहते हैं।

वारसविहेण तवसा णियाणरहियस्स णिज्जरा होदि।
वेरग्गभावणादो णिरहंकारस्स णाणिस्स॥102॥

—का.नु, आ. कार्तिकेय जी

निदान रहित, अहंकार रहित ज्ञानी के बारह प्रकार के तप से तथा वैराग्ईावना से निर्जरा होती है।

सुदृढ़गाढबद्धानां कर्मणां मूलतोत्र वा।
निर्जरा हि भिनत्तिस्म पवितुल्यं हि भूधरान्॥76॥

—सुधर्म ध्यान प्रदीप

जिस प्रकार वज्र से पर्वत चूर-चूर हो जाते हैं उसी प्रकार निर्जरा से अत्यन्त दृढ़ व गांठ बंधे हुए कर्म भी जड़ से नष्ट हो जाते हैं।

संसाराम्बुधितारिकां क्षयकरां दुःकर्मशत्रोः परां,
सेव्यां श्रीजिनपुङ्गवैर्गुणनिधिं मुक्तिस्त्रियो मातरम्।

दु:खाद्रौ पविसन्निभां सुखखनीं श्वभ्रालयेष्वर्गलां, कुर्वीध्वं शिवलब्धये सुतपसा दक्षाः सदा निर्जराम्॥15/90

—श्री पार्श्वनाथ चरितम्, आ. सकलकीर्ति जी

जो संसार रूपी समुद्र से तारने वाली है, दुष्टकर्मरूपी शत्रु का क्षय करने वाली है, उत्कृष्ट है, श्री जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा सेवनीय है, गुणों का भण्डार है, मुक्तिरूपी स्त्री की माता है, दु:खरूपी पर्वत को नष्ट करने के लिए वज्र समान है, सुख की खान है तथा नरकरूपी घर की आगल है ऐसी निर्जरा को हे चतुरजन हो! मोक्ष की प्राप्ति के लिए उत्तम तप के द्वारा निरंतर करो।

दु:कर्मक्षयकारिणी वरतपोजा निर्जरा मुक्तिदा॥5/107

—श्री मल्लिनाथ पु., आ. सकलकीर्ति जी

निर्जरा समस्त अशुभ कर्मों का क्षय करने वाली है, उत्कृष्ट तप से जायमान है और मोक्ष को प्रदान करने वाली होती है।

निर्जरा वेदनाविपाक। सा द्वेधा अबुद्धिपूर्वा कुशलमूला चेति। तत्र नरकादिषु कर्मफलविपाकजा अबुद्धिपूर्वा सा अकुशलानुबन्धा। परिषहजये कृते कुशलमूला सा शुभानुबन्धा चेति। इत्येवं निर्जराया गुणदोषभावनं निर्जरानुप्रेक्षा।

—स.सि., आ. पूज्यपाद स्वामी जी

वेदना विपाक का नाम निर्जरा है। यह दो प्रकार की है—अबुद्धिपूर्वा और कुशलमूला। नरकादि गतियों में कर्मफल

के विपाक से जायमान जो अबुद्धिपूर्वी निर्जरा होती है वह अकुशलानुबन्धा है तथा परीषह के जीतने पर जो निर्जरा होती है वह कुशलमूला निर्जरा है। वह शुभानुबन्धा और निरनुबन्धा होती है। इस प्रकार निर्जरा के गुणदोष का चिन्तवन करना निर्जरानुप्रेक्षा है।

गाढोऽपजीर्यते यद्वद् आमदोषो विसर्पणात्।
तद्वद् निर्जीर्यते कर्म तपसा पूर्वसञ्चितम्॥6/39॥

–तत्त्वार्थसार, आ. अमृतचंद्र सूरि

रेचन की औषध सेवन करने से जिस प्रकार गाढ़ जमा हुआ आम दोष अथवा अजीर्णता का दोष दूर हो जाता है उसी प्रकार पूर्वसंचित कर्म तपश्चरण करने से नष्ट हो जाता है। यह संचित कर्म के दूर करने का उपाय है। इससे कैसा ही दृढ़बद्ध कर्म हो वह भी नष्ट हो जाता है।

निर्जरा कर्मणः कार्या तपोभिर्द्वादशात्मकैः।
बाह्याभ्यन्तरभेदाभ्यांजिनोक्तैःशर्मकारिभिः॥10/68॥

पञ्चेन्द्रियाणि निर्जित्य ये कुर्वन्ति जिनोदितम्।
तपस्ते संसृतौ धन्या मनुष्याः परमार्थिनः॥10/69॥

–श्रीपाल चरित्र, आ. सकलकीर्ति जी

जिनेन्द्र भगवान् ने निर्जरा का हेतु तप कहा है। वह तप बाह्य व अभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार का है। इस प्रकार यह तप बारह प्रकार का है। इनकी सिद्धि पाँचों इन्द्रियों के दमन करने से होती है, इस प्रकार बार-बार विचार करना निर्जरा भावना है। जो मनुष्य सांसारिक विषयों को त्यागकर

आत्मकल्याण के मार्ग पर दृढ होकर चलते हैं, वे ही धन्य हैं।

णिज्जरा कम्म-सडणं, होदि मोक्खस्स कारणं णियमेणं।
दुविहा तं णादव्वा, दव्व भावाण भयेणं च॥170॥

–अनुप्रेक्षा सार, आ. वसुनंदी मुनि

कर्मों का विशीर्ण होना निर्जरा कहलाती है। यह निर्जरा नियम से मोक्ष का कारण होती है। उसे द्रव्य व भाव के भेद से दो प्रकार की जानना चाहिए।

बारसविहेण तपसा, णियाररहियस्स णिज्जरा होदि।
वेरग्ग भावानदो निरहंकारस्स णाणिस्स॥

–यशोधर चरित्र, पुष्पदंत कवि

जो निदान रहित और अहंकार वर्जित ज्ञानी है उसी के बारह प्रकार का तप और वैराग्य भावना से निर्जरा होती है।

दुर्गतिष्वकुशलानुबन्धिनी संयमान्नु कुशलानुबन्धिनी।
निर्जरा निरनुबन्धिनी च सा चिन्तिता परमयोगिनामुना॥63/87॥

–हरिवंश पु., आ. जिनसेन स्वामी

नरकादि गतियों में जो प्रतिसमय कर्मों की निर्जरा होती है वह अकुशलानुबन्धिनी निर्जरा है तथा संयम के प्रभाव से देव आदि गतियों में जो निर्जरा होती है वह कुशलानुबन्धिनी निर्जरा होती है। जिस निर्जरा के बाद पुनः कर्मों का बंध होता रहता है वह अनुबन्धिनी निर्जरा तथा जिस निर्जरा के बाद पूर्वकृत कर्म खिरते तो हैं पर नवीन कर्मों का बंध नहीं होता उसे निरनुबन्धिनी निर्जरा कहते हैं, परम योगिजन इसी निरनुबन्धिनी अनुप्रेक्षा का चिन्तवन करते हैं।

सत्तिअ-सुद्धाहारो
छुहा-विणासणत्थं गहेज्ज सया।
सो अहिंसगाहारो,
अघ-संतीइ कारणं होदि॥22॥

क्षुधा निवृत्ति के लिए सदा सात्विक शुद्ध आहार ही ग्रहण करना चाहिए। वह अहिंसक आहार पापों की शांति का कारण होता है।

(आ. वसुनंदी मुनि, अहिंसगाहारो)

10.

लोकानुप्रेक्षा

लोकाकाश जानो वह, जहाँ षट् द्रव्य निवास।
शेष अलोकाकाश है, जिन आगम की भास।।
जिन आगम की भास, त्रिविध यह लोक बखानो।
उर्ध्व मध्य अध लोक, भ्रमण अपना ही जानो।।
कहें सूरि वसुनंदि, अनादि नंत प्रकाशा।
है अकृत्रिम रूप, शुद्ध ये नित्य अकाशा।।

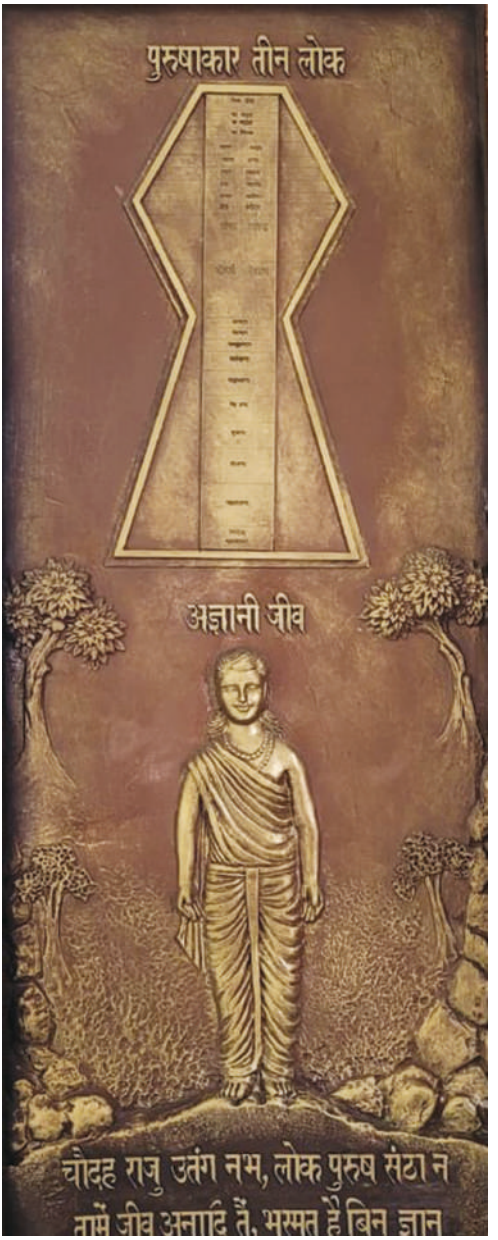
पुरुषाकार तीन लोक
अज्ञानी जीव
चौदह राजु उतंग नभ, लोक पुरुष संठा न
तामें जीव अनादि तैं, भरमत है बिन ज्ञान

लोकानुप्रेक्षा

महानुभाव!

जब जीवन में संवर और निर्जरा तत्त्व आ जाते हैं तब नियम से मोक्ष तत्त्व की प्राप्ति होती है, इसलिए मोक्ष भावना को अलग से कहने की आवश्यकता नहीं है। जैसे आस्रव कहने से बंध भावना कहना आवश्यक नहीं है, ऐसे ही संवर-निर्जरा कहने से मोक्ष कहना जरूरी नहीं है। जहाँ कारण होता है वहाँ कार्य नियम से होता ही है। जब मार्ग में व्यक्ति चलता है तो मंजिल की प्राप्ति होती ही है और जहाँ कारणों को नष्ट कर दिया जाता है तो कार्य नष्ट हुआ ही माना जाता है। आस्रव के माध्यम से जो कारण थे वे कार्य रूप से बंध को प्राप्त हो रहे थे, संवर के माध्यम से मार्ग को अवरुद्ध किया था, निर्जरा के माध्यम से उसे नष्ट ही कर दिया।

महानुभाव! अब हमें चर्चा करनी है इस जीव के संबंध में; कि आखिर में यह जीव रहता कहाँ है। इस आत्मा के बारे में लोगों की विभिन्न धारणाएँ, मान्यताएँ अनादिकाल से चली आ रही हैं। कोई कहता है शरीर के मध्य में आत्मा चींटी के बराबर है, कोई कहता है आत्मा हृदय में छोटी सी बनकर रहती है, कोई कहता है आत्मा का वास मस्तिष्क में रहता है, कोई कहता है ब्रह्मस्थान में होता है, कोई कहता है आत्मा पूरे शरीर में विद्यमान है, सबकी अलग-अलग मान्यताएँ हैं। कोई कहता है नख और केशों

को छोड़कर के आत्मा के प्रदेश शरीर में वैसे ही विद्यमान हैं जैसे दूध में घी विद्यमान रहता है अथवा शक्कर के दाने में सर्वत्र मिठास विद्यमान होती है अथवा अग्नि के कोयले में सब जगह उष्णता विद्यमान होती है अथवा जल के प्रत्येक अंश में शीतलता विद्यमान होती है, ऐसे ही शरीर के प्रत्येक अंश में आत्मा के प्रदेश विद्यमान हैं। यदि इतनी बड़ी आत्मा है तो फिर चींटी के शरीर में छोटी कैसे हो जाती है? हाथी के शरीर में बड़ी कैसे हो जाती है? अरे! इस आत्मा में संकोच-विस्तार की शक्ति है। जैसे प्रकाश में संकोच-विस्तार की शक्ति है। यदि बल्ब किसी कमरे में लगा दिया जाए तो प्रकाश कमरे के बराबर होता है, उसी बल्ब को किसी छोटे डिब्बे में लगा दिया जाए तो डिब्बे के बराबर हो जाता है, उसी बल्ब को किसी बड़े हॉल में लगा दिया जाए तो प्रकाश उस हॉल तक फैल जाता है; ऐसे ही जितना बड़ा शरीर होता है आत्मा के प्रदेश उतना ही फैलते जाते हैं, शरीर छोटा होता है तो प्रदेश सिकुड़ते चले जाते हैं।

महानुभाव! यह तो आपने जान ही लिया कि आत्मा आस्रव के कारण संसार में कर्मबंध करती है और आस्रव मिथ्यात्वादि के कारण होता है। किन्तु आत्मा रहती कहाँ है? आत्मा लोक में रहती है। लोक के बारे में मिथ्यादृष्टि नहीं समझ सकते क्योंकि जिन्हें इस लोक के संबंध में दृढ़ विश्वास है, दृढ़ निश्चय से वे ही जान सकते हैं। जितनी खोज आज के वैज्ञानिकों ने की है मात्र उतना ही लोक नहीं

है, उतना ही विश्व नहीं है। कोई कहता है विश्व बहुत बड़ा है, ऐसे अनंत ब्रह्माण्ड हैं, कोई कहता है ऐसे-ऐसे अनंत विश्व हैं, कोई कहता है ऐसे अनंत चंद्रमा व सूर्य हैं, कोई कहता है ऐसी अनेक पृथ्वियाँ हैं, न जाने कितने प्रकार की मानव की धारणाएँ बनी हुई हैं।

लोक के बारे में जिनशासन में कहा गया है, तीर्थंकर सर्वज्ञ प्रभु की वाणी निःसृत है कि लोक तो अनादिकाल से है। इस लोक को किसी ने बनाया नहीं, इस लोक को कोई नष्ट नहीं कर सकता। आकाश तो अनंत है उसका कोई ओर-छोर नहीं, सीमा नहीं। किसी भी प्रकार से आकाश के अंत को प्राप्त नहीं किया जा सकता। उस आकाश के मध्य में लोकाकाश है। वह लोकाकाश कितना बड़ा है? प्रत्यक्ष ज्ञानियों ने, अरिहंतों ने, भगवंतों ने कहा है—जैसे कोई बहुत बड़ा क्षेत्र और आपकी भाषा में कहें कि ये पूरा विश्व जितना बड़ा है उतने बड़े क्षेत्र के बीच में रखा हुआ सरसों का दाना मात्र इतना बड़ा लोक है, उसके बाहर सब अलोक ही अलोक है। सरसों का दाना; यह भी बहुत बड़ा है, इस लोक का पैमाना नापने के लिये कहते हैं तो 343 घनराजू। इतना बड़ा यह लोक पुरुषाकार है। जैसे कोई पुरुष अपने दोनों पैरों को फैलाकर खड़ा हो जाए, अपने दोनों हाथ कटि भाग पर टिका ले ऐसा यह लोक है।

लोक कहते किसे हैं? जिसमें जीव-पुद्गल आदि द्रव्य देखे जाते हैं वह लोक है। **'लुक्यंते जीवाद्यापदार्था यस्मिन् सः लोकः'।** जहाँ इसके विपरीत जीवादि पदार्थ

नहीं देखे जाते वह अलोक है। लोक तीन भाग में विभाजित है–यथा कमर के नीचे का हिस्सा अलग, नाभि का अलग व नाभि के ऊपर का अलग। जो कमर से नीचे का हिस्सा है इसके समान जो आकृति है उसे कहते हैं अधोलोक।

नाभि के मध्य के हिस्से को कहते हैं मध्यलोक, उसके ऊपर के हिस्सों को कहते हैं ऊर्ध्वलोक। नाभि के नीचे दोनों पैरों को फैलाकर इस आकृति के अधोलोक के सात भाग हैं। इसमें सात नरक होते हैं, उसके नीचे कलकल भूमि है; जहाँ शाश्वत निगोदिया जीवों का वास है। नाभि समान मध्यलोक में वलयाकार थाली की तरह असंख्यात द्वीप-समुद्र हैं। बीच में चूड़ी की तरह एक द्वीप, फिर उसे घेरे हुए एक समुद्र, ऐसे असंख्यात् द्वीप-समुद्र हैं। इनकी कोई संख्या नहीं है। असंख्यात् अर्थात् गणनातीत। उसके ऊपर अधोलोक, जिस तरह मानव के शरीर में पसलियाँ होती हैं ऐसे ही दोनों साइडों में स्वर्ग होते हैं। कण्ठ का स्थान नवग्रैवेयक की तरह से है। उसके ऊपर नव अनुदिश उसके ऊपर पाँच अनुत्तर विमान और ब्रह्मस्थान को मानें सिद्धशिला का स्थान। ऐसी मानवाकृति लोकाकृति ही है।

लोग कहते हैं इस लोक को किसी ने बनाया है, कोई इसकी रक्षा करता है, कोई इसका संहार करता है; किन्तु नहीं, न तो कोई इसकी रक्षा करता है, न कोई बनाता है, न इसका कोई संहारक है। अनादिकाल से प्रकृति का नियम है उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य। इस संसार में पर्यायें उत्पन्न होती हैं तो पर्यायें ही नष्ट हो जाती हैं। गुण ध्रौव्य रूप से रहते

हैं। इस लोक को कोई उत्पन्न करने वाला नहीं है, कोई नष्ट करने वाला नहीं है। अनादिकाल से वह स्वनिर्मित है। वातवलय के आधार से हैं और वात वलय आकाश के आधार से है। इसे कोई थामे नहीं है। लोक के बारे में कोई कहता है कि ये लोक तो गाय के सींग पर है, कोई कहता है यह पृथ्वी शेषनाग के फण पर है, कोई कहता है ये कश्यप की पीठ पर है, कोई कहता है किसी के हाथ में है, कोई कहता है किसी के वक्षस्थल पर है, कोई कहता है किसी के सिर पर विराजित है; ये सब विभिन्न व्यक्तियों की धारणाएँ उनके मन की संतुष्टि के लिये भले ही मान ली जाएँ किन्तु ये सब धारणाएँ निर्मूल हैं। इनमें सत्यांश दिखायी नहीं देता।

महानुभाव! जैन दर्शन इसको इस प्रकार स्वीकार करता है; यह लोक जो अनादिनिधन है, इस लोक में जीव अनादिकाल से परिभ्रमण कर रहा है। कभी अधोलोक में जाता है नारकी बनता है, कभी मध्यलोक में आता है मनुष्य-तिर्यंच बनता है तो कभी ऊर्ध्वलोक में चला जाता है, देव आदि बनता है। पुनः ये जन्म-मरण करता रहता है, कर्मों का बंध करता है, पुनः जन्म लेता है, मृत्यु को प्राप्त करता है। उसकी यह ऐसी यात्रा है जिसे अंतहीन यात्रा कह सकते हैं। किन्तु अंतहीन यात्रा अभव्य जीवों की होती है जिसका कभी अंत नहीं होता। भव्य जीवों की यात्रा आदिहीन होती है किन्तु अंतहीन नहीं।

भवदेव नाम का वैश्य जिसने पूर्वभव के बैर के कारण रतिवेगा व सुकान्त नामक दम्पत्ति को मार डाला। आर्तध्यान

से मरने के कारण वे दोनों कपोत युगल हुए तब भवदेव का जीव मरण को प्राप्त कर बिलाव हुआ व कपोत युगल का भक्षण किया। मरण को प्राप्त कर वे कपोत युगल हिरण्यवर्मा व प्रभावती हुए एवं बिलाव मरकर विद्युच्चोर हुआ। तब उसने उन दोनों को जिंदा चिता में झोंक दिया। इस जघन्य पाप से वह चोर नरकों में गया। वहाँ घोर कष्टों को भोगा। वहाँ से निकलकर संसार में बहुत भ्रमण किया। फिर पुण्य प्रकृति उदय में आने से दरिद्र कुल में उत्पन्न हुआ। वहाँ उसका नाम भीम था। कुछ पुण्य से मुनिराज का संयोग पाकर अष्टमूलगुणों को ग्रहण किया। पुनः मुनि दीक्षा ग्रहण कर द्वादश भावनाओं का चिंतवन प्रारम्भ कर दिया तथा अधःकरण, अपूर्वकरण व अनिवृत्तिकरण रूप परिणाम के द्वारा पाप कर्मों का बन्ध न्यून कर क्षायिक सम्यक्त्व तथा क्षायिक चारित्र प्राप्त कर लिया। तत्पश्चात् अल्पकाल में ही केवलज्ञान प्राप्त कर केवलज्ञानी हो गए तथा अन्त में अघातिया कर्मों का नाश कर मोक्ष को प्राप्त किया।

महानुभाव! जीव संसार में जन्म भी लेते हैं मृत्यु को प्राप्त भी करते हैं। जन्म-मृत्यु क्यों होते हैं? तो आपने देखा कर्मों के वशीभूत होकर के। जीव जैसे भाव करता है उसके वैसे ही कर्मों का बंध होता है। कर्म उस आत्मा को वहीं ले जाते हैं जहाँ का बंध किया है। बुरे भाव किये तो वह कर्म आत्मा को नरक में ले जाता है। अच्छे भाव किये तो ये कर्म आत्मा को स्वर्ग में ले जाता है। मध्यम भाव किये तो मध्यलोक में भटकाता है और यदि कर्मों को

नष्ट कर दिया जाए तो आत्मा इस लोक के भ्रमण से मुक्त होकर के शाश्वत सिद्ध क्षेत्र में पहुँच जाता है।

जीव कर्म के लिये निमित्त है, कर्म जीव के लिये निमित्त है। अकेला कर्म जीव के बिना नहीं जा सकता, अकेला जीव कर्म के बिना संसार में नहीं जा सकता; केवल जाता है तो सिद्ध क्षेत्र में जाता है, इसके अलावा अन्य कहीं कर्म के बिना जीव नहीं जा सकता। जैसे–नाव नदी में पड़ी हुई है। नाविक नाव को नदी के इस किनारे से उस किनारे तक ले जाता है। तो नाव को नाविक ले गया और नाविक को नाव ले गई। ऐसे ही कर्म आत्मा को संसार में परिभ्रमण कराते हैं और आत्मा कर्मों को परिभ्रमण कराती है। कर्मों के बिना आत्मा का परिभ्रमण नहीं हो सकता और आत्मा के बिना कर्मों का बंध व मोक्ष नहीं होता।

महानुभाव! कहने का अभिप्राय ये है कि इस लोक में कहीं भी दु:ख-सुख, कुछ भी नहीं है। दु:ख और सुख के कारण तो हमारी आत्मा में हैं, वह दु:ख-सुख के कारण हैं कर्म। वे कर्म हमारे भावों से आते हैं और उन कर्मों से मुक्त होने का पुरुषार्थ हमें करना पड़ेगा। जैसे आप पुरुषार्थ करते हैं–कोई व्यवसायी धन कमाने का, विद्यार्थी अच्छे नंबर प्राप्त करने के लिये अध्ययन में पुरुषार्थ करता है, किसान अच्छी खेती के लिये खेत में परिश्रम करता है, उद्योगपति अपने व्यापार को बढ़ाने के लिये प्रयास करता है, महिलाएँ घर की व्यवस्था में प्रयास करती हैं, तो सभी व्यक्ति अपने-अपने क्षेत्र में अपना प्रयास व पुरुषार्थ करते हैं और पुरुषार्थ करने पर भाग्य यदि अनुकूल होता है

तो सफलता भी मिलती है और भाग्य अनुकूल न हो तो पुरुषार्थ करने पर भी सफलता नहीं मिलती।

महानुभाव! हम और आप भी सम्यक् पुरुषार्थ करें। समीचीन पुरुषार्थ फल देगा किन्तु पुरुषार्थ ही न करें इस भय से कि फल मिलेगा या नहीं तो फल कैसे मिलेगा। सम्यक् पुरुषार्थ के मायने क्या हैं–जैसे किसी को दिल्ली से मुंबई जाना है, उसे स्टेशन से ट्रेन पकड़नी है तो स्टेशन पर जाना पड़ेगा, समय पर जाना पड़ेगा, ट्रेन छूट गई तो जाने से लाभ क्या। ऐसे ही जिस सम्यक् क्रिया के माध्यम से कर्मों का नाश हो सकता है उस क्रिया को करना चाहिए।

व्यक्ति संसार में तपस्या–साधना तो कम करता है किन्तु वह कर्मों के बंध की प्रक्रिया ज्यादा अपना लेता है। जैसे व्रत, उपवासादि द्वारा कर्मों की निर्जरा करना चाहता है किन्तु राग रूप से उसकी प्रवृत्ति भोगने में/सेवन करने में या अन्य प्रकार से राग- द्वेष रूप परिणाम करने में ज्यादा रहती है, इसलिए कर्मों का बंध ज्यादा हो जाता है, कर्मों की निर्जरा कम हो पाती है। यदि कर्मों की निर्जरा ज्यादा की जाए और कर्मों का बंध कम हो तो जीव जल्दी ही कर्मों से मुक्त हो सकता है और यदि कर्मों की निर्जरा कम करेगा, बंध ज्यादा होता जाएगा वो बैलेंस घटता चला जाएगा। आत्मा पर जितना ज्यादा कर्मों का बैलेंस हो जाएगा, आत्मा कर्मों के भार से उतनी नीची दबती चली जाएगी, अधोगति की पात्र हो जाएगी, दुःखों की पात्र हो जाएगी। जिस आत्मा में कर्मों का बैलेंस कम होता चला जाता है, पापरूप कर्मों का बैलेंस कम हो जाता है पुण्य रूप कर्मों का बैलेंस थोड़ा ज्यादा भी हो जाए तो आत्मा ऊपर उठती चली जाती है।

फिर वैमानिक देव कभी मनुष्य बन जाती है और जब इस आत्मा के पास अच्छे-अच्छे कर्म रहते हैं, जिन कर्मों के माध्यम से कर्मों को नष्ट करने की साधन-सामग्री प्राप्त होती है ऐसे कर्मों के रहते हुए अनुकूल साधन सामग्री को प्राप्त करके वही आत्मा पुरुषार्थ के बल से कर्मों को नष्ट कर देती है और परमदशा को प्राप्त हो जाती है, परमात्मा बन जाती है।

लोकानुप्रेक्षा में आपको यही चिंतन करना है कि यह लोक किस प्रकार से 343 घन राजू वाला है। इसके बीचों-बीच में त्रस नाड़ी है, जिसमें त्रसजीव रहते हैं। उसके बाहर स्थावर जीव रहते हैं। इस जीव ने मिथ्यात्वादि के वशीभूत होकर के इस लोक में एक बार नहीं, दो-चार-सौ बार नहीं, हजार-करोड़-अरब-खरब बार भी नहीं, संख्यात बार नहीं, असंख्यात बार नहीं, अनंत बार जन्म-मरण किया है। इस लोक में जितने प्रदेश हैं उस एक-एक प्रदेश पर अनंत-अनंत बार जन्म मरण किया है। इस जीव ने अनादिकाल से किया ही क्या है? आत्मा कभी जन्मती नहीं है, आत्मा कभी मरती नहीं है यह तो शरीर जन्म-मरण को प्राप्त होता है, आत्मा तो अनादिकाल से है। इस आत्मा ने अनादिकाल से केवल यही तो किया है। जन्म-मृत्यु की सांकल बढ़ायी है, कर्मों का बंध किया है, उनका फल भोगा फिर जन्मा, फिर मरा यही करता आया है।

अनादिकाल से यह आत्मा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावरूप पंचपरावर्तन करके चतुर्गति में भ्रमण करता आया है। पंच परावर्तन का स्वरूप इस प्रकार है–

1. द्रव्य परिवर्तन–किसी विवक्षित समय में एक जीव ने ज्ञानावरण आदि सात कर्मों के योग्य पुद्गलस्कन्ध ग्रहण किये और आबाधाकाल बीत जाने पर उन्हें भोगकर छोड़ दिया। उसके बाद अनन्त बार अग्रहीत, ग्रहीत और मिश्र का ग्रहण करके छोड दिया। उसके बाद जब वे ही पुद्गल वैसे ही रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि भावों को लेकर, उसी जीव के वैसे ही परिणामों से पुनः कर्म रूप परिणत होते हैं, उसे कर्म द्रव्य परिवर्तन कहते हैं। इसी तरह किसी विवक्षित समय में एक जीव ने तीन शरीरों की छह पर्याप्तियों के योग्य नोकर्मपुद्गल ग्रहण किये और भोगकर छोड़ दिये, पूर्वोक्त क्रमानुसार जब वे ही नोकर्म पुद्गल उसी रूप-रस आदि को लेकर उसी जीव के द्वारा पुनः नोकर्मरूप से ग्रहण किये जाते हैं, उसे नोकर्म द्रव्यपरिवर्तन कहते हैं। कर्म द्रव्य व नोकर्म द्रव्य परिवर्तन को द्रव्य परिवर्तन कहते हैं।

2. क्षेत्र परिवर्तन–क्षेत्र परिवर्तन दो प्रकार का होता है–स्वक्षेत्र परिवर्तन और परक्षेत्र परिवर्तन। कोई सूक्ष्मनिगोदिया जीव सूक्ष्मनिगोदिया जीव की जघन्य अवगाहना को लेकर उत्पन्न हुआ और आयु पूर्ण करके मर गया। पश्चात् अपने शरीर की अवगाहना में एक-एक प्रदेश बढ़ाते-बढ़ाते महामत्स्य की अवगाहनापर्यन्त अनेक अवगाहना धारण करता है। उसे स्वक्षेत्रपरिवर्तन कहते हैं अर्थात् छोटी अवगाहना से लेकर बड़ी अवगाहना पर्यन्त सब अवगाहनाओं को धारण करने में जितना काल लगता है उसको स्वक्षेत्र परिवर्तन कहते हैं। कोई जघन्य अवगाहना का धारक सूक्ष्मनिगोदिया

लब्ध्यपर्याप्तक जीव लोक के आठ मध्यप्रदेशों को अपने शरीर के आठ मध्यप्रदेश बनाकर उत्पन्न हुआ, पीछे वही जीव उस ही रूप से उस ही स्थान में दूसरी-तीसरी बार भी उत्पन्न हुआ।

इसी प्रकार घनांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण जघन्य अवगाहना के जितने प्रदेश हैं उतनी बार उसी स्थान पर क्रम से उत्पन्न हुआ और श्वास के अट्ठारहवें भाग प्रमाण क्षुद्र आयु को भोगकर मरण को प्राप्त हुआ, पीछे एक-एक प्रदेश बढ़ाते-बढ़ाते सम्पूर्ण लोक को अपना क्षेत्र बना ले यह परक्षेत्रपरिवर्तन है।

3. कालपरिवर्तन उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के प्रथम समय से लेकर अन्तिम समय पर्यन्त सब समयों में यह जीव क्रमशः जन्म लेता है और मरता है।

कोई जीव उत्सर्पिणी काल के प्रथम समय में उत्पन्न हुआ आयु पूर्ण कर मर गया। फिर भ्रमण करके दूसरी उत्सर्पिणी के दूसरे समय में उत्पन्न हुआ और आयु पूर्ण करके मर गया। फिर भ्रमण करके तीसरी उत्सर्पिणी के तीसरे समय में उत्पन्न हुआ और उसी तरह मर गया। यही क्रम अवसर्पिणी काल के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए।

इस क्रम से अवसर्पिणी व उत्सर्पिणी के बीस कोड़ाकोड़ी सागर में जितने समय है उनमें उत्पन्न हुआ और इसी क्रम से मरण को प्राप्त हुआ अर्थात् उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के प्रथम समय में मरा, फिर दूसरी उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी के दूसरे समय में मरा। इसे काल परिवर्तन कहते हैं।

4. भवपरिवर्तन—नरकगति में जघन्य आयु दस हजार वर्ष की है। उस आयु को लेकर कोई जीव प्रथम नरक में उत्पन्न हुआ और आयु पूर्ण करके मर गया। पुनः उसी आयु को लेकर वहाँ उत्पन्न हुआ और मर गया। इस प्रकार दस हजार वर्ष में जितने समय हैं उतनी बार दस हजार वर्ष की आयु लेकर प्रथम नरक में उत्पन्न हुआ। पीछे एक समय अधिक दस हजार वर्ष की आयु लेकर वहाँ उत्पन्न हुआ। फिर दो समय अधिक दस हजार वर्ष की आयु को लेकर उत्पन्न हुआ। इस प्रकार एक-एक समय बढ़ाते-बढ़ाते नरकगति की उत्कृष्ट आयु तैंतीस सागर पूर्ण करता है।

फिर तिर्यंचगति में अन्तर्मुहूर्त की जघन्य आयु लेकर उत्पन्न हुआ और पहले की तरह अन्तर्मुहूर्त में जितने समय होते हैं, उतनी बार अन्तर्मुहूर्त की आयु लेकर वहाँ उत्पन्न हुआ। फिर एक-एक समय बढ़ाते-बढ़ाते तिर्यंच गति की उत्कृष्ट आयु तीन पल्य समाप्त करता है। फिर तिर्यंचगति की ही तरह मनुष्यगति में भी अन्तर्मुहूर्त की जघन्य आयु को लेकर तीन पल्य की उत्कृष्ट आयु समाप्त करता है।

पीछे नरकगति की तरह देवगति की आयु को भी समाप्त करता है। किन्तु देवगति में इतनी विशेषता है कि वहाँ इकतीस सागर की ही उत्कृष्ट आयु को पूर्ण करता है। क्योंकि ग्रैवेयक में उत्कृष्ट आयु 31 सागर की ही होती है और मिथ्यादृष्टियों की उत्पत्ति ग्रैवेयक तक ही होती है।

इस प्रकार चारों गतियों की आयु पूर्ण करने को भवपरिवर्तन कहते हैं।

5. भावपरिवर्तन—योगस्थान, अनुभागबन्धाध्यवसाय-स्थान, कषायाध्यवसाय स्थान और स्थिति स्थान इन चार के निमित्त से भाव परिवर्तन होता है। मिथ्यादृष्टि, पंचेन्द्रिय, सैनी, पर्याप्तक कोई जीव ज्ञानावरण कर्म की अन्तःकोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण जघन्यस्थिति को बांधता है। उस जीव के उस स्थिति के योग्य जघन्य कषाय स्थान, जघन्य अनुभाग, स्थान और जघन्य ही योगस्थान होता है। फिर उसी स्थिति, उसी कषाय स्थान और अनुभाग, स्थान को प्राप्तजीव के दूसरा योगस्थान होता है। जब सब योगस्थानों को समाप्त कर लेता है तब उसी स्थिति और उसी कषाय. स्थान को प्राप्त जीव के दूसरा अनुभाग स्थान होता है। उसके योगस्थान भी पूर्वोक्त प्रकार ही जानने चाहिए। इस प्रकार प्रत्येक अनुभाग. स्थान के साथ सब योगस्थानों को समाप्त करता है।

अनुभाग. स्थान के समाप्त होने पर उसी स्थिति को प्राप्त जीव के दूसरा कषाय. स्थान होता है। इस कषायाध्यवसाय स्थान के अनुभाग. स्थान और योगस्थान पूर्ववत् जानने चाहिए।

इस प्रकार से कषायाध्यवसाय स्थानों की समाप्ति तक अनुभागस्थान और योगस्थानों की समाप्ति का क्रम जानना चाहिए। कषाय. स्थानों के भी समाप्त होने पर वही जीव उसी कर्म की एक समय अधिक अन्तः कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाणस्थिति बांधता है। उसके भी कषाय. स्थान, अनुभाग, स्थान व योगस्थान पूर्ववत् जानने चाहिए।

इस प्रकार एक-एक समय बढ़ाते बढ़ाते उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोडी सागरपर्यन्त प्रत्येक स्थिति के कषाय. स्थान, अनुभाग. स्थान और योगस्थानों का क्रम जानना चाहिए। इसी प्रकार सभी मूल व उत्तर प्रकृतियों में समझना चाहिए।

अर्थात् प्रत्येक मूल प्रकृति और प्रत्येक उत्तर प्रकृति की जघन्य स्थिति से लेकर उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त प्रत्येक स्थिति के साथ पूर्वोक्त सब कषायाध्यवसाय स्थानों, अनुभागबन्धाध्यवसाय स्थानों और योगस्थानों को पहले की ही तरह लगा लेना चाहिए। इस प्रकार सब कर्मों की स्थिति को भोगने को भाव-परिवर्तन कहते हैं।

महानुभाव! अनादिकालीन भवभ्रमण की इस बात को सम्यग्दृष्टि समझने की चेष्टा करता है; इसलिए संस्थानविचय नाम का धर्मध्यान देशव्रतियों को होता है। अव्रती भी इसकी भावना भाते हैं, महाव्रती इसमें आनन्द मनाते हैं, लीन हो जाते हैं, बहुत समय तक इस ध्यान में डूबे रहते हैं किन्तु अव्रती यदि इसका ध्यान करने बैठे तो वह कहेगा मेरा तो सिरदर्द करने लगा, उसका मन ही नहीं लगता। मिथ्यादृष्टि कहता है यह फालतू बातें हैं, इनमें कोई सार नहीं है किन्तु सम्यग्दृष्टि कहता है, योगी कहता है, महाव्रती कहता है कि सार की चीज तो यही है। जब इस लोक का चिंतवन, धर्म-अधर्म-आकाश-काल का चिंतवन करते हैं, शुद्ध सिद्ध चैत्यों का चिंतन करते हैं तब हमारे अंदर भी उस आत्मा को शुद्ध बनाने की शक्ति प्राप्त होती है। यदि ऐसा चिंतन नहीं किया जाए तो शक्ति प्राप्त नहीं होती। जैसे कि एक

पहलवान को देखकर के स्वयं पहलवान बनने की भावना आती है। एक डॉक्टर को देखकर दूसरा बालक कहता है मैं भी डॉक्टर बनूँगा, जिसे देखता है उस जैसा बनने की भावना भाता है। ऐसे ही हमें परमात्मा का चिंतन करने से परमात्मा बनने की भावना आती है और परमात्मा बनने की भावना इसलिए आती है कि लोक में परिभ्रमण करते-करते वे लोक के परिभ्रमण से मुक्त हो गये और मुक्त होकर सिद्धालय में पहुँच गये। तो उनका चिंतन करने से हमें भी वह शक्ति प्राप्त होती है। मैं भी उस अवस्था को प्राप्त करूँगा, मेरा भी ध्येय वही है, मैं भी वही हूँ।

हे प्रभु! मैं तुम्हारा अंशज भले ही नहीं हूँ किन्तु तुम्हारा वंशज तो हूँ। मैंने भी आपके ही वंश में जन्म लिया है। आप भी पहले हम जैसे मनुष्य थे, आप भी पहले अन्य गतियों में गये होंगे, आपने कौन-कौन सी अवस्था प्राप्त नहीं की है, सब अवस्थाएँ प्राप्त की हैं। आपका भूत मैं हूँ और मेरा भविष्य आप हैं। मैं आपकी वर्तमान दशा को प्राप्त करना चाहता हूँ; और आपकी जो भूत दशा थी उसे मैं भी छोड़ना चाहता हूँ क्योंकि आपको भी अपने भूतकाल की दशा रास नहीं आयी इसलिए आपने वर्तमान दशा को प्राप्त करने के लिए पुरुषार्थ किया। मैं भी अपनी वर्तमान की दशा को और अतीत की दशाओं को भूलकर के अपनी भविष्य की दशा को प्राप्त करना चाहता हूँ।

महानुभाव! हम संकल्प के साथ इस लोकानुप्रेक्षा का चिंतवन करें। इसका चिंतवन करने से नियम से संसार-शरीर-

भोगों से विरक्ति होती है। लोकानुप्रेक्षा का चिंतवन करने से पापों से भीरुता जागती है, धर्म-धर्मात्मा-धर्म के फल के प्रति संवेगभाव पैदा होता है। लोकानुप्रेक्षा का चिंतवन करने से आत्मशक्ति जाग्रत होती है। हम अपनी आत्मा के समीप पहुँच जाते हैं; क्योंकि आत्मा के समीप पहुँचने का केवल एक ही मार्ग है वह है आध्यात्मिकता का मार्ग। आध्यात्मिकता के मार्ग में mile stone नही हैं। वह तो खुले आकाश का मार्ग है; जो चलता है उसे रास्ता मिलता है। दूसरे के बनाये रास्ते पर कोई चल नहीं सकता केवल इशारा किया जा सकता है। हम और आप भी लोकानुप्रेक्षा का चिंतवन करते हुए आध्यात्मिकता के उस अदृश्य पथ पर गमन करें जहाँ से पुनः लौटकर के कभी आना न पड़े। वह अदृश्य पथ हमारे द्वारा ही निर्मित किया जा सकता है। दूसरे के द्वारा निर्मित किए अदृश्यपथ पर कोई चल नहीं सकता। इसलिए वह अदृश्य पथ हमारी आत्मा में है, उसे हम अपनी आत्मा में डूबकर के ही प्राप्त कर सकते हैं। आत्मा में डूबकर जिस अदृश्य पथ पर गमन किया जाता है वही आत्मा-परमात्मा बन जाती है।

हम और आप उसी पथ के पथिक हैं, निःसंदेह परमात्मा बनेंगे। हम आप सभी के प्रति भावना भाते हैं कि आप सभी भी परमात्मा बनें, अपने शाश्वत वैभव को प्राप्त करें, संसार के भवभ्रमण से, जन्म-मरण के दुःखों से बचें ऐसी मैं आप सभी के प्रति मंगल भावना भाता हूँ। और इसी के साथ अपनी शब्द शृंखला को विराम देता हूँ।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

लोक भावना संबंधित उपयोगी श्लोक व गाथाएँ

लोकेद्विधा कारणकार्य भावैरुत्पादभङ्गःस्थिति संप्रयुक्तः।
पञ्चास्तिकायात्मकसंनिबद्धो विचित्ररूपस्त्विति लोकचिन्ता॥

—वरांग च., आ. जटासिंहनन्दि जी

जीवलोक के उत्पादक कारण प्रधानतया दो (उपादान और निमित्त) प्रकार का है, प्रत्येक पर्याय के कार्य-कारण भाव निश्चित हैं। इसके प्रत्येक अंग और पर्याय में आप कुछ पदार्थों को उत्पन्न होते देखेंगे, कुछ समय बाद उन्हें लुप्त होता भी देखेंगे और देखेंगे कुछ ऐसे तत्त्व जिन पर जन्म और मरण का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता है। इसको स्थूल रूप देने में पृथ्वी आदि पाँचों अस्तिकायों का प्रधान हाथ है तथा इसका रूप और आकार भी बड़ा विचित्र (पैर फैलाकर कोई आदमी कमर पर हाथ रखकर खड़ा हो तो जो आकार बनेगा वही लोक का आकार है) है। यही लोक-भावना है।

अनादिनिधनः सोऽयं स्वयं सिद्धोऽप्यनश्वरः।
अनीश्वरोऽपि जीवादि पदार्थैः सम्भृतो भृशम्॥174॥

—ज्ञाना., आ. शुभचन्द्र जी

आदि व अंत से रहित यह लोक स्वयंसिद्ध और अविनश्वर है। वह यद्यपि सृष्टि के निर्माता ईश्वर से रहित है फिर भी जीवादि द्रव्यों से अतिशय भरा हुआ है।

असुहेणणिरियतिरियंसुहउवजोगेणदिविज-णर-सोक्खं।
सुद्धेण लहइ सिद्धिं एवं लोयं विचिंतिज्जो।।42।।

–बा.अ., आ. कुंदकुंद स्वामी जी

अशुभोपयोग से नरक व तिर्यंच गति प्राप्त होती है, शुभोपयोग से देव व मनुष्य गति का सुख मिलता है और शुद्धोपयोग से जीव मुक्ति को प्राप्त करता है इस प्रकार लोक का विचार करना चाहिए।

लोकोदुःखसुखाकरोऽतिविषयोऽनादिस्त्रिधा शाश्वतः।।5/107

–श्री मल्लिनाथ पु., आ. सकलकीर्ति जी

यह लोक दुःख और सुख का स्थान है, अत्यन्त विषम है, अनादि है एवं ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक व पाताललोक के भेद से तीन प्रकार का सदा रहने वाला है। इस प्रकार से चिन्तवन करना लोक भावना है।

नित्या ध्वगेन जीवेन भ्रमता लोकवर्त्मनि।
वसति-स्थानवत् कानि कुलान्यध्युषितानि न।।6/40।।

–तत्त्वार्थसार, आ. अमृतचंद्र सूरि

जीव सदा ही भ्रमण करता है, राहगीर ही बना रहता है। लोक मात्र भ्रमण का मार्ग है। घर, द्वार की तरह असंख्यातों ऐसे शरीराकार हैं कि जिन्हें कुल कहते हैं। उनमें से ऐसे कौन से कुल हैं जो कि जीव ने अपने भ्रमण में घर रूप न बना लिए हों–जिनमें कि जीव भ्रमते हुए निवास न कर चुका हो।

लोकोऽयं पुरुषाकारो वर्तते शाश्वतस्सदा।
न केनाऽपि कृतश्चास्य हन्तानैव कदाचन॥10/70॥

—श्रीपाल च., आ. सकलकीर्ति जी

यह लोक पुरुषाकार है, शाश्वतसिद्ध स्वभाव वाला है, अनादि-निधन है, अकृत्रिम है, इसका न कोई कर्ता है न कोई संहारक है। इस प्रकार लोक के स्वरूप व आकारादि का विचार करना लोक भावना है।

लोकः सर्वोऽपि सर्वत्र सापायस्थितिर ध्रुवः।
दुःखकारीति कर्तव्या मोक्ष एव मतिः सताम्॥6/54॥

—प.पंच., आ. पद्मनन्दि जी

यह सब लोक सर्वत्र विनाशयुक्त स्थिति से सहित, अनित्य और दुःखदायी है ऐसा जानकर विवेकीजनों को अपनी बुद्धि मोक्ष के विषय मे ही लगाना चाहिए।

विज्जू व चंचलं फेण दुब्बलं वाधि महिय मच्चुहदं।
णाणी किह पच्छंतो रमेज्ज दुक्खुइधुदं लोगं॥1806॥

—भ. आ., आ. शिवकोटि जी

बिजली की तरह चंचल, फेन की तरह दुर्बल, रोगों से ग्रस्त और मृत्यु से पीड़ित इस लोक को देखकर ज्ञानी इसमें कैसे अनुराग कर सकता है।

सव्वायासमणंतं तस्स य बहुमज्झसंठियो लोओ।
सो केणवि णेय कओ ण य धरिओ हरिहरादीहिं ॥115॥

—का.नु, आ. कार्तिकेय जी

आकाश द्रव्य का क्षेत्र अनंत है, उसके बहुमध्य देश में लोक स्थित है। वह किसी के द्वारा बनाया हुआ नहीं है और न ही किसी हरि-हर-विष्णु-शिव आदि के द्वारा धारण किया गया है। ऐसा चिन्तवन करना चाहिए।

लोगणुवेक्खं भव्वा, चिंतेज्जा धम्म-झाण वडुत्थं।
संठाणविचय-झाणं लोग चिंतणं मुणेदव्वं॥233॥

—आ. वसुनंदी, अणुवेक्खा सारो

भव्यों को धर्मध्यान की वृद्धि के लिए लोकानुप्रेक्षा का चिंतन करना चाहिए, लोक का चिंतन करना संस्थानविचय धर्मध्यान जानना चाहिए।

सर्वद्रव्यभृतं ह्यानादिनिधनं शर्मासुखाद्याकरं,
नित्यं दृग्विषयं जिनस्य नियतासंख्यप्रदेशात्मकम्।
पुण्यापुण्यगृहं जिनेन्द्रगदितं ज्ञात्वेह लोकत्रयं,
हत्वा रागमनारतं सुतपसा मोक्षं भजध्वं बुधाः॥15/111॥

—श्री पार्श्वनाथ चरितम्, आ. सकलकीर्ति जी

जो सब द्रव्यों से भरा हुआ है, अनादिनिधन है, सुख-दुःख आदि की खान है, नित्य है, जिनेन्द्रदेव के दृष्टि-गोचर है—केवलज्ञान का विषय है, नियत असंख्यातप्रदेश वाला है तथा पुण्य और पाप का घर है ऐसे जिनेन्द्र कथित तीनों लोकों को जानकर हे बुधजन हो! राग को नष्टकर निरन्तर तप के द्वारा मोक्ष की आराधना करो।

"लोकस्य स्वभावपरिणाम परिणाहसंस्थानाऽनुचिंतनं लोकानुप्रेक्षा।" —चा.सा., चामुंडराय जी कृत

लोक का स्वभाव, लोक का परिमाण, परिधि और उसका आकार चिंतवन करना लोकानुप्रेक्षा है।

सव्वाया समणंतं तस्य य बहुमज्झि संट्ठियो लोओ।
सो केण वि णेय कयो ण य धरिओ हरिहरादीहिं॥

–यशोधर च., पुष्पदंत कवि

समस्त आकाश द्रव्य का क्षेत्र अनंत प्रदेशी है, उसके बहुमध्य देश में (बीच में) लोक (6 द्रव्य का समुदाय रूप) तिष्ठा हुआ है, वह किसी का किया हुआ नहीं है तथा हरिहरादिकों का धारण किया हुआ भी नहीं है, इस प्रकार चिन्तवन करना लोक भावना है।

लोकसंस्थितिरनाद्यनन्तिकालो - गर्भबहुमध्यभागभाक्।
अत्रहीषडसुकायसंहतिर्दुःखिनीतिखलुलोकचिन्तना॥63/88

–हरिवंश पु., आ. जिनसेन स्वामी जी

लोक की स्थिति अनादि अनंत है यह लोक अलोकाकाश के ठीक मध्य में स्थित है। इस लोक के भीतर छह काय के जीव निरन्तर दु:ख भोगते रहते हैं ऐसा चिंतवन करना लोकानुप्रेक्षा है।

णर-पसु-देवाकिदीण,
देवी-णारीण णिरय-रक्खसाण।
भोयणं वि णो करेज्ज,
तं पावस्स कारणं होदि॥52॥

मनुष्य, पशु, देव, देवी, स्त्री, नारकी व राक्षस आदि की आकृति का भोजन कभी नहीं करना चाहिए। क्योंकि वह बहुत पाप का कारण होता है।

(आ. वसुनंदी मुनि, अहिंसगाहारो)

11.

बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा

दुर्लभ जान निगोद से, थावर त्रस पर्याय।
मनुज जन्म ऐसे मिले, ज्यों चिंतामणि पाय॥

ज्यों चिंतामणि पाय और भी दुर्लभ जानों।
उत्तम कुल, आयु, सुदेश, सद्संगति मानो॥

कहें सूरि वसुनंदि, धर्म नहिं निश्चय संभव।
अर्हं बोधि समाधि दशा, सिद्धों सी दुर्लभ॥

धन कन कंचन राजसुख, सबहि सुलभकर जान
दुर्लभ है संसार में, एक जथारथ ज्ञान

बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा

महानुभाव!

विगत दिवस लोक अनुप्रेक्षा के संबंध में सुन रहे थे। लोक, लोक का स्वरूप, लोक किसने बनाया, कब बनाया, वह कब तक रहेगा, यह जीव लोक में भ्रमण क्यों करता है, यह सब बातें सुनी, आज चर्चा करते हैं 'बोधि दुर्लभ अनुप्रेक्षा' के संबंध में–

बोधि शब्द का अर्थ है–सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चारित्र। दुर्लभ शब्द का अर्थ है–कठिनाई से प्राप्त करने योग्य। अनुप्रेक्षा का अर्थ है–चिंतवन करना। इस अनुप्रेक्षा का चिंतवन करना इसलिए अति आवश्यक हो जाता है क्योंकि जो वस्तु हमने प्राप्त की है उसका सम्यक् उपयोग किया जा रहा है या नहीं। महानुभाव! लोक में देखा जाता है जो कोई भी वस्तु जितनी कठिनाई से प्राप्त की जाती है उस वस्तु का उतना ही अच्छा सदुपयोग करने का प्रयास किया जाता है। जैसे किसी व्यक्ति को कोई वाहन कई वर्षों की इंतजारी करने के बाद प्राप्त हुआ, तो वह व्यक्ति उस वाहन का अच्छे से अच्छा प्रयोग करने का प्रयास करता है। एक विद्यार्थी को कोई पुस्तक कई वर्षों के बाद प्राप्त हुई; जिसकी उसे बहुत खोज व चाह थी; उसने उसके लिये खूब प्रयास किया था और जब पुस्तक उसके हाथ में आई तो अब उस पुस्तक को वह छोड़ना नहीं चाहता। किसी गरीब व्यक्ति को कोई सम्पत्ति कठिनाई से प्राप्त हो

गई तो वह उस धन-सम्पत्ति का सदुपयोग करना चाहता है। गरीबी में वह सोचता था यदि मेरे पास पैसा होता तो मैं दान करता, गरीबों की सेवा करता, अपने धन का किंचित् भी दुरुपयोग नहीं करता, अब कठिनाई से प्राप्त धन को वह सद् कार्यों में लगाता है।

जिस व्यक्ति के पास यौवन अवस्था होती है वह यौवन का दुरुपयोग करता है और वृद्ध पुरुष कहता है काश! मेरे पास यौवन होता तो मैं उसका सदुपयोग कर लेता; किन्तु वह युवा जिसे इस बात का अहसास हो गया है कि यौवन अवस्था-बड़ी दुर्लभ है वह उसका सदुपयोग कर लेता है और जब तक उसकी दुर्लभता का बोध नहीं होता तब तक वह उसका सदुपयोग नहीं करता। जिस व्यक्ति के लिये जो वस्तु सरल है, सहज है और आसानी से प्राप्त हो जाती है वह उसका ज्यादा अच्छा उपयोग नहीं करता किन्तु जिसे जो वस्तु जितनी ज्यादा कठिनाई से प्राप्त होती है वह उस वस्तु का उतना अच्छा प्रयोग करता है।

महानुभाव! जिस वृद्ध पुरुष के मुख में दाँत नहीं हैं वह सोच रहा है यदि मेरे पास दाँत होते तो मैं अच्छी तरह से चबा-चबाकर खाता, कदाचित् उसने कृत्रिम दाँतों को अपने मुख में आरोपित कर लिया तो उसे प्राप्त कर वह बड़े आनंद के साथ चबा-चबाकर भोजन तो करता है किंतु ऐसा नहीं कि उन दाँतों से पत्थर को चबा-चबाकर उन दाँतों को तोड़ दे। वह जानता है जब दाँत नहीं थे तब मुझे

भोजन करने में कितनी प्रतिकूलता थी, आज दाँत मिल गये हैं अब इनका सदुपयोग करूँगा।

महानुभाव! ऐसे ही पहले यदि व्यक्ति के पास बैलगाड़ी नहीं थी तब वह अपने घर का अनाज अपनी पीठ पर रखकर ढोता था, जब उसके पास बैलगाड़ी आ गई तो वह उसका सदुपयोग करता है। अरे! जिन बच्चों के पास पहले साइकिल नहीं थी वे पैदल स्कूल जाते थे; अब साइकिल आ गई, तो उसे इतनी संभाल के रखते हैं कि उसमें एक खरोंच भी न आ जाए। जिसे जो वस्तु बड़ी दुर्लभता से प्राप्त होती है वह व्यक्ति उस वस्तु का अच्छे से अच्छा सदुपयोग करता है और जिसे जो वस्तु सहजता में प्राप्त होती है वह उसका सही सदुपयोग नहीं कर पाता।

एक व्यक्ति जंगल मे भटक गया, प्यास के मारे उसका कण्ठ सूख गया; कण्ठ क्या सूखा समझो उसके प्राण ही कण्ठ में आ गये। वह वहाँ आकुल-व्याकुल होकर घबराने लगा, उसे अपनी मौत सामने नाचती हुई दिखाई देने लगी। बेचारा, मरता क्या न करता, जैसे-तैसे वह अपने शरीर की सारी शक्ति को बटोरकर पानी की तलाश में दौड़ता है और उसका परिश्रम सार्थक हो जाता है। उसे एक स्थान पर एक गिलास पानी रखा दिखाई देता है; उसे देखते ही लगता है जैसे प्राण मिल गये। वह ज्यों ही पीने को हुआ तभी सामने से एक व्यक्ति कहता है भैया! मैं बड़ी मेहनत से यह पानी लाया हूँ; यहाँ आस-पास कहीं पानी नहीं है, मैं बीस कोस दूर जाता हूँ, वहाँ से पानी लेकर आता हूँ। एक कलश पानी

लाया था, उसमें से एक गिलास पानी बचा है; यदि तुम प्यासे हो तो पानी पी सकते हो। जो व्यक्ति प्यासा था उसे एक गिलास पानी में प्राण दिखाई रहे थे, बताओ, वह उस पानी का क्या करेगा? क्या उससे अपने हाथ-पैर धोएगा या फैला देगा अथवा कुल्ला करेगा? नहीं, वह उस पानी को गट से पी जाएगा; मुख से तो पानी बाद में जाएगा किंतु वह निगाह से पहले ही पी जाएगा।

जिस व्यक्ति को दो-चार दिन से भोजन नहीं मिला है, बहुत भूखा है; कदाचित् उसे पुण्य योग से स्वादिष्ट भोजन मिल जाए तो वह उस स्वादिष्ट भोजन को प्राप्त करके उसका दुरुपयोग नहीं करेगा, फैंकेगा नहीं, नाक मुँह नहीं सिकोड़ेगा भोजन को बड़ी सावधानी से रखेगा, उसका उपयोग करेगा और तो और जो व्यक्ति जंगलों में भटक जाते हैं उन्हें चपाती खाने नहीं मिलती; वे फल-फूल-पत्ते खाकर के काम चलाते हैं और उन फलों में ही उन्हें अपने प्राण नजर आते हैं। उन्हें लगता इस जंगल में फल प्राप्त करना भी बहुत कठिन है।

ऐसे ही जिस व्यक्ति को लगा है कि मनुष्य अवस्था बहुत दुर्लभ है वह व्यक्ति अपनी मनुष्य अवस्था का दुरुपयोग नहीं कर सकता। ज्ञानी पुरुष दुर्लभ वस्तु का कभी दुरुपयोग नहीं करते हैं; जो दुर्लभ वस्तु का दुरुपयोग करता है वह नियम से अज्ञानी ही होता है।

इस चतुर्गति रूप संसार में, जिसमें जीव 84 लाख योनियों में भ्रमण करता है, इसमें दुर्लभ क्या है? इसमें

दुर्लभ है निगोद से निकलकर व्यवहार राशि में आ जाना, उससे भी ज्यादा दुर्लभ है दो इन्द्रिय आदि त्रस पर्याय को प्राप्त करना और उससे भी ज्यादा दुर्लभ है पंचेन्द्रिय की अवस्था को प्राप्त करना, पंचेन्द्रिय भी बन गये तो उसमें भी संज्ञी अवस्था को प्राप्त करना, उसमें भी मनुष्य अवस्था प्राप्त करना बहुत दुर्लभ है।

महानुभाव! इस असार संसार में सुख का लेश मात्र भी दुर्लभ है और दु:ख बड़ा भारी है, फिर भी आश्चर्य है कि मन्दबुद्धि पुरुष उसमें सुख की इच्छा करते हैं। चतुर्गति रूप संसार में भ्रमण करते हुए इस जीव ने नरकों में जो महान् दु:ख भोगे हैं यदि उनका स्मरण भी हो जाए तो फिर कोई भी उन भोगों की इच्छा न करे। दु:खों से भरे हुए नरकों में कभी स्वप्न में भी सुख प्राप्त नहीं होता; क्योंकि वहाँ रात-दिन दु:ख ही दु:ख रहता है और ऐसा दु:ख जो कि दु:ख के कारणभूत असाताकर्म का बन्ध कराने वाला होता है। उन नरकों से किसी तरह निकलकर यह मूर्ख जीव अनेक योनियों में परिभ्रमण करता हुआ तिर्यंच गति के बड़े भारी दु:ख भोगता है।

बड़े दु:ख की बात हैं! तिर्यंच गति में भी यह जीव पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक आदि पर्यायों में खोदा जाना, जलती हुई अग्नि में तपाया जाना, बुझाया जाना, अनेक कठोर वस्तुओं से टकरा जाना तथा छेदा-भेदा जाना आदि के कारण भारी दु:ख पाता है। यह जीव घटीयन्त्र की स्थिति को धारण करता हुआ सूक्ष्म-बादर पर्याप्तक तथा अपर्याप्तक अवस्था

में अनेक बार परिभ्रमण करता रहता है। पुनः कुछ पुण्य उदय से त्रस पर्याय प्राप्त करता है तो वहाँ भी मारा जाना, बाँधा जाना, रोका जाना, भूख-प्यास आदि के द्वारा जीवन पर्यंत अनेक दुःख प्राप्त करता है। सबसे पहले जन्म अर्थात् पैदा होने का दुःख उठाना पडता है, उसके अनन्तर बुढ़ापा का दुःख और फिर उससे भी अधिक मृत्यु का दुःख भोगना पड़ता है, इस प्रकार सैकड़ों दुःखरूपी भँवर से भरे हुए संसाररूपी समुद्र में यह जीव सदा डूबा रहता है।

इस प्रकार यह अज्ञानी जीव तिर्यंच योनि में अनन्तकाल तक दुःख भोगता रहता है। तदनन्तर अशुभ कर्मों के कुछ-कुछ मन्द होने पर उस तिर्यंच योनि से बड़ी कठिनता से बाहर निकलता है और कर्मरूपी सारथि से प्रेरित होकर मनुष्य पर्याय को प्राप्त होता है। वहाँ भी दूसरों की सेवा करना, दरिद्रता, चिन्ता, शोक, नीचकुल आदि प्राप्त कर बड़ा भारी दुःख भोगता है। मनुष्य पर्याय प्राप्त करके भी उत्तमकुल, उत्तम देश, सद्संगति, श्रावक पुनः श्रमणपने को स्वीकार कर संसार के दुःखों से छूटना अत्यंत दुर्लभ है। कोई बिरला अल्पसंसारी ही इन सब दुर्लभताओं को प्राप्त कर उसकी दुर्लभता को जानकर मोक्ष का प्रयत्न करता है।

महानुभाव! लोग कहते तो हैं मनुष्य अवस्था बहुत दुर्लभ है, यह बात कहना एक अलग बात है किन्तु वास्तव में इसकी दुर्लभता को जान पाना बहुत दुर्लभ है। मनुष्य अवस्था कितनी दुर्लभ है इस बात की जानकारी प्रत्येक व्यक्ति को नहीं है। मनुष्य बन गये, मनुष्य बन जाना फिर भी एक आसान बात है; किन्तु बन पाना कितना कठिन है इस बात को जान पाना बहुत कठिन है।

कोई व्यक्ति मनुष्य भी बना किन्तु लब्ध्यपर्याप्तक बन गया; अन्तर्मुहूर्त में मृत्यु को प्राप्त हो गया अथवा पर्याप्तक बना तो कभी गर्भ में ही मृत्यु को प्राप्त हो गया, अथवा जन्म भी हो गया तो जन्मते ही मृत्यु को प्राप्त हो गया, अथवा जन्म से ही विकलांग है या जन्म से ही गूंगा, बहरा, काना या रोगी है। वह जन्म से ही कुछ करने में असमर्थ है अथवा जन्म लिया, शरीर भी स्वस्थ पाया, क्षयोपशम भी अच्छा है किन्तु ऐसे कुल में जन्म लिया जहाँ कहीं धर्म की चर्चा भी नहीं होती, निरन्तर पाप कार्य ही होते रहते हैं। ऐसे कुल में जन्म लेकर के, ऐसे क्षेत्र में जन्म लेकर के, ऐसी कुसंगति में जाकर के व्यक्ति कैसे अपना कल्याण करे, कैसे अपने हित की साधना करे?

महानुभाव! बड़ा कठिन है जीवन में हित की बुद्धि पैदा होना, बहुत कठिन है इस मन में अपने आत्मा के कल्याण की भावना प्रकट होना। बड़ा कठिन है आत्म तत्त्व का ज्ञान होना, बड़ा कठिन है जीव-अजीव का भेदविज्ञान, आत्मा-अनात्मा का सम्यग्ज्ञान, बड़ा कठिन है सम्यक्त्व को प्राप्त कर पाना। चिन्तामणि रत्न की प्राप्ति सुलभ हो सकती है, कामधेनु की प्राप्ति सुलभ हो सकती है, पारसमणि की प्राप्ति सुलभ हो सकती है और भी संसार की दुर्लभ-दुर्लभ वस्तुओं की प्राप्ति सुलभ हो सकती है किन्तु संयम की प्राप्ति सुलभ नहीं है, जिनभक्ति की प्राप्ति सुलभ नहीं होती, रत्नत्रय की प्राप्ति सुलभ नहीं होती। यह बहुत-बहुत दुर्लभ है।

प्राप्त करना बड़ा कठिन है किंतु प्राप्त करके वह पुनः नष्ट नहीं हो जाए इसलिए उसकी सुरक्षा करना बड़ा दुर्लभ है। कहीं मैं प्रमादी न बन जाऊँ, कहीं मेरा सम्यक्त्व छूट न जाए, मेरे चारित्र में कहीं दोष न लग जाए, मेरा ज्ञान कहीं विस्मृत न हो जाए इस प्रकार का जागरूक होना, सावधान होना बहुत कठिन है। और पुनः अत्यंत कठिन कहें वह है सकल संयम को स्वीकार करना। व्यवहार मोक्षमार्ग को स्वीकार करके निश्चय मोक्षमार्ग को स्वीकार करना बहुत कठिन है।

महानुभाव! आ. ब्रह्मदेव सूरि ने दुर्लभता के संबंध में कहा है कि ताड़ वृक्ष से गिरते हुए फल का कौवे के मुख में आ जाना जितना कठिन होता है ऐसे ही त्रसपर्याय का प्राप्त करना बड़ा कठिन है। सिद्धान्त चक्रवर्ती आचार्य वसुनंदी जी महाराज जो मूलाचार के टीकाकार हैं उन्होंने मूलाचार की टीका में लिखा है–यदि लवण समुद्र के एक किनारे पर जुआ डाल दिया जाए और दूसरे किनारे पर उसके सैल को डाल दिया जाए तो जुआ के छेद में सैल का स्वमेव फँस जाना जितना कठिन होता है उतना ही कठिन है, मनुष्य अवस्था का प्राप्त करना। अन्य प्रकार से भी मनीषी विद्वानों ने समझाने की कोशिश की है कि दुर्लभता क्या है।

मनुष्य अवस्था कैसे दुर्लभ है? जैसे आपके रत्नों की पोटली कहीं जंगल में रह गई, जहाँ पर चोर-डाकू-लुटेरे रहते हैं वहाँ पर ही रह गई, पुनः आप छह महीने बाद गये,

उस पोटली का वहीं का वहीं मिल जाना जैसे बड़ा दुर्लभ है क्योंकि जो चोर और डाकू होते हैं वे आदमी से धन आदि को जबरदस्ती छीन लेते हैं और जब उन्हें वही सहजता से प्राप्त हो जाए तो कैसे छोड़ेंगे, किन्तु जैसे उस पोटली का पुनः ज्यों की त्यों प्राप्त हो जाना दुर्लभ है वैसे ही मनुष्य पर्याय का प्राप्त करना दुर्लभ है। अथवा, कपूर की डली हवा में रखते ही उड़ जाती है किन्तु कपूर की डली का वर्षों बाद भी ज्यों का त्यों मिल जाना जितना कठिन है वैसे ही मनुष्य अवस्था पुनः प्राप्त करना कठिन है।

अथवा, ग्रीष्मकाल में ज्येष्ठ के माह में घास के अंकुर पर जमी हुई ओस की बिन्दु का दीर्घकाल तक टिक पाना कठिन होता है, उसी प्रकार मनुष्य भव में आत्मकल्याण की बुद्धि का टिक पाना कठिन होता है।

अथवा, किसी राजा ने कौतुक करने के लिए भरत क्षेत्र में उत्पन्न होने वाले सब जाति के धान्यों को एकत्रित करके उनमें एक पाव सरसों के दाने मिला दिए और उन मिले हुए धान्यों में से चौबीस जाति के धान्यों को जुदा-जुदा करो ऐसा आदेश दिया। इन धान्यों में एक पाव सरसों के दाने हैं उनको अवश्य ही अलग करके दो। एक वृद्धा बोली कि राजन् ये किसी प्रकार से जुदा नहीं हो सकते हैं, हाँ! यदि देव माया वश अलग हो जाएँ तो हो जावें किन्तु भिन्न होना नितांत कठिन है उसी प्रकार मनुष्य पर्याय पाना अत्यन्त दुर्लभ है और वीतराग भगवान् का कहा हुआ धर्म अत्यंत दुर्लभ है।

अथवा, किसी देव ने एक पाषाण खम्भे का वज्र से चूर्ण किया और उसको लेकर सुमेरु पर्वत के ऊपर जा चढ़ा तथा उस चूर्ण को एक बाँस की नली में भरकर फूँक से उड़ाया, उस उड़े हुई चूर्ण के सब परमाणुओं को पुनः एकत्र करना नितांत कठिन है। फिर भी वह चूर्ण दैव प्रभाव से मिल भी जावे किंतु मनुष्य भव तथा उसमें वीतराग भगवान् का कहा हुआ धर्म मिलना अत्यन्त दुर्लभ है।

महानुभाव! यह पंचमकाल है, इस कलिकाल में कृष्ण-नील-कापोत लेश्या वाले जीवों की प्रचुरता है, इस कलिकाल मे विषय भोगों की प्रचुरता है, इस कलिकाल में हिंसादि में संलग्न जीवों की बहुलता है, यहाँ व्यक्ति का मन धर्म में कम लग पाता है, व्यक्ति का मन सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उपासना में कम लगता है, देव-शास्त्र-गुरु की सेवा-भक्ति में कम लगता है। मन विपरीत दौड़ जाता है। लोग कहते हैं—माला हाथ में लेते ही मन भाग जाता है और संसार के कार्यों में लग जाएँ तो मन एक बार भी नहीं भागता। मन उसी में लग जाता है। कारण ये है कि अनादिकाल से इस मन ने संसारवर्धक कार्य ही तो किये हैं, इस शरीर से संसारवर्धक क्रियाएँ ही तो की हैं, अनादिकाल से इस जीव ने संसार संवर्धक वचनों का प्रयोग किया है किन्तु आज तक इसने संसार विच्छेदक कार्य नहीं किये, कभी संसार विच्छेदक वचनों का प्रयोग नहीं किया और संसार विच्छेदक विचारों को मन में उत्पन्न नहीं किया। यह करना उसके लिये नयी घटना है। इसलिए उसके जीवन में बार-बार

संसार के संस्कारों का तो प्रादुर्भाव हो जाता है किन्तु जो मोक्ष में मूलभूत कारण हैं उन संस्कारों को यह प्राप्त नहीं कर पाता है।

महानुभाव! दुर्लभता के संबंध में आप जो बारह भावना में पढ़ते हैं–

दुर्लभ है निगोद से थावर अरु त्रस गति पानी।
नरकाया को सुरपति तरसै सो दुर्लभ प्रानी।।
उत्तम देश सुसंगति दुर्लभ श्रावक कुल पाना।
दुर्लभ सम्यक, दुर्लभ संयम, पंचम गुण ठाना।।
दुर्लभ रत्नत्रय आराधन दीक्षा का धरना।
दुर्लभ मुनिवर के व्रत पालन शुद्ध भाव करना।।
दुर्लभ से दुर्लभ है चेतन बोधि ज्ञान पावै।
पाकर केवल ज्ञान नहीं फिर इस भव में आवै।।

नि:संदेह यह सब अवस्थाएँ एक से बढ़कर एक बहुत दुर्लभ हैं, कठिन से कठिन हैं। जैसे कोई व्यक्ति कहे छोटे बालक के लिये खड़ा हो पाना तो कठिन है ही चल पाना उससे भी ज्यादा कठिन हो, दौड़ना और कठिन है, समतल भूमि के अतिरिक्त ऊबड़-खाबड़ भूमि पर चलना तो और कठिन है, फिर पहाड़ पर चढ़ना बहुत कठिन है, पहाड़ के ऊबड़ खाबड़ रास्ते में भी पत्थर ऐसे हों जिन्हें हाथ से पकड़ो और वे नीचे खिसक जाएँ ऐसे पर्वत पर चढ़ना जैसे कठिन होता है उसी प्रकार इस पंचमकाल में सकलसंयम को स्वीकार करके अपने व्रतों का पालन करना कठिन होता है।

महानुभाव! कहने का अभिप्राय यह है कि मनुष्य पर्याय ऐसे दुर्लभ है जैसे उस राजकुमार को अपने पिता का राज्य प्राप्त करना मुश्किल होता है। पिता के राज्य को प्राप्त करने का आशय– राजकुमार ने पिताजी से कहा–पिताजी अब आप राज्य मुझे सौंप दें और आप संन्यास धारण कर लें, क्यों? क्योंकि मैं योग्य हो चुका हूँ। पिता ने कहा–ठीक है मैं तुम्हें राज्य दे देता हूँ किन्तु एक शर्त है, हम-तुम एक खेल खेलते हैं, जितने दाव तुम उस खेल में जीतते चले जाओगे उतना राज्य तुम्हारा होता चला जाएगा।

राजकुमार बोला–मैं समझा नहीं। पिता ने कहा–बेटा बात ये है इस महल में 1008 खंभे हैं, हर खंभे पर 1008 हंस बने हुए हैं, हर हंस के गले में 1008 माला हैं, हर माला में 1008 मोती हैं एक दाव जीत गए तो एक मोती तुम जीत जाओगे। 1008 दाव जीत गए तो एक माला जीत जाओगे, उसे 1008 का गुणा करके जितने दाव होते हैं वे जीत गए तो एक हंस को जीत लिया, उसमें 1008 का गुणा करके जितने दाव होते हैं उतना जीत लिया तो एक खंभा जीत लिया, उसमें 1008 का गुणा करने पर जितने दाव हुए उतना जीत लिया तो समझो पूरा राज्य जीत लिया। वह बोला पिता जी मैं कोशिश करता हूँ कि मैं पूरे राज्य को जीत कर ही रहूँगा। पिता ने कहा–बेटा इन सबमें एक बात ध्यान रखना यदि एक बार भी कोई दाव चूक गया या हार गया तो तेरी सभी जीत हार ही मानी जाएगी, सभी जय पराजय ही मानी जाएगी इसलिए सावधानी से खेलना है। महानुभाव! जिस प्रकार उस राजकुमार का राज्य प्राप्त

करना बहुत कठिन है वैसे ही हमारा और आपका मनुष्य अवस्था को प्राप्त करना कठिन है।

महानुभाव! यह हमारा परम अहोभाग्य है जो आज ऐसे दु:खम् पंचमकाल में भी इस दुर्लभ मनुष्य पर्याय में जिन धर्मयुक्त देशना को, हेयोपादेयबुद्धि से श्रवण कर पा रहे हैं और ग्रहण कर पा रहे हैं। अब इस मनुष्य पर्याय को प्राप्त कर अहंकार नहीं करना अपितु यह दृष्टिपात करना कि आपकी यात्रा कहाँ से शुरू हुई? अंगुल के असंख्यातवें भाग क्षेत्र में जो अनंतजीवों को स्थान देता है वह है निगोद। वह निगोदिया जीव जिनका आहार-मरण-श्वासोच्छ्वास-उत्पत्ति एक साथ साधारण रूप से होती है। अनादिकालीन भवभ्रमण की यात्रा का यदि विचार करें तो इस निगोद से प्रथम तो निकलना ही दुर्लभ है क्योंकि उनका भाव कलंक बड़ा प्रचुर है। कुछ कषाय की मंदता पर वहाँ से निकलना और त्रस पर्याय को प्राप्त करना समुद्र में गिरी हीरे की कणिका प्राप्त होने के समान दुर्लभ है। क्योंकि यह लोक पंच स्थावरों से ठसाठस भरा है। आचार्य भगवन् सिद्धान्त चक्रवर्ती श्री नेमिचन्द्राचार्य ने गोम्मटसार जीवकाण्ड में गाथा दी-

एगणिगोदसरीरे, जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा।
सिद्धेहिं अणंतगुणा, सव्वेण वितीदकालेण॥196॥

एक निगोदिया के शरीर में द्रव्य-प्रमाण से जीवों की संख्या, सिद्धों की संख्या से और अतीतकाल के सर्व समयों की संख्या से अनंतगुणी है। यह तीन लोक स्थावर जीवों

से भरा हुआ है, लोक के प्रत्येक प्रदेश पर जीव समूह है जो कि एकेन्द्रिय स्थावर है।

महानुभाव! उस एकेन्द्रिय पर्याय से त्रस पर्याय पाना वैसे ही दुर्लभ है जैसे रेत के पहाड़ से गिरी हीरे की कणिका का मिलना। आचार्य भगवन् अकलंक स्वामी जी ने 'राजवार्तिक' ग्रंथ में लिखा कि जैसे गुणों में कृतज्ञता मिलना कठिन होता है वैसे ही विकलेन्द्रिय जीवों से पंचेन्द्रियत्व की प्राप्ति दुर्लभ है। पंचेन्द्रिय जीवों में भी पक्षी, सर्पादि क्रूर परिणामी तिर्यंचों की बहुलता है, उस पंचेन्द्रियता के प्राप्त होने पर मानव पर्याय का मिलना चौराहे पर गुम हुए रत्न की पुनः प्राप्ति के समान कठिन है।

एक बार मनुष्य पर्याय प्राप्त होकर नष्ट हो जाने के बाद पुनः मनुष्य पर्याय का प्राप्त करना जले हुए पेड़ में अंकुर निकलने के समान अति कठिन है। मनुष्य पर्याय के मिल जाने पर भी हिताहित के विचार से शून्य, पशु के समान जीवन व्यतीत करने वाले मानवों से व्याप्त म्लेच्छ देशों की (कुदेशों) बहुलता होने से सुदेश यानि आर्यखण्ड में जन्म का लाभ मिलना पाषाणों में मणि प्राप्ति के समान दुर्लभ है और सुदेश मिल जाने पर भी पाप कर्म करने वाले नीच कुल से व्याप्त लोक में सुकुल प्राप्ति अति दुष्कर है, सुकुल में जन्म हो जाने पर शील, विनय, सदाचार की परम्परा भी दुर्लभ है। यदि यह सब मिल भी जाए इस पर भी दीर्घ आयु, इंद्रिय-बल, निरोगता आदि की प्राप्ति उत्तरोत्तर दुर्लभ है और यह सर्वगुण मिल जाने पर भी यदि

सद्धर्म का लाभ नहीं होता तो नेत्रविहीन मुख के समान वह मानव जन्म व्यर्थ है।

महानुभाव! कठिनता से प्राप्त इस धर्म को पाकर विषयसुख में रंजायमान होना, भस्म के लिए चंदन को जलाने के समान निष्फल है। विषय विरक्त होने पर भी तप भावना, धर्म भावना, सुख, मरणादि रूप समाधि अति दुर्लभ है। रत्नत्रय धर्म की निर्मलता, शुद्ध भावों की प्राप्ति क्रमशः दुर्लभ-दुर्लभ से भी दुर्लभ है। ऐसा चिन्तवन करना बोधि-दुर्लभ भावना है। हमें सदैव प्रतिक्षण निज परिणामों की संभाल करते रहना चाहिए, प्रभु परमात्मा से प्रतिदिन यही भावना भाना हे भगवन्! मेरी जिनधर्म में सदैव सद्बुद्धि बनी रहे, बोधि का लाभ प्राप्त कर जन्म-मरण की शृंखला विच्छेद कर बोधि के परमोत्कृष्ट फल को मैं प्राप्त करूँ।

महानुभाव! इस मनुष्य पर्याय को प्राप्त करके हमें इसका सम्यक् सदुपयोग करना चाहिए, दुरुपयोग नहीं। दुर्लभ वस्तुएँ दुरुपयोग के लिए नहीं, सदुपयोग के लिए प्राप्त होती हैं और सब को नहीं तीव्र पुण्यात्मा भव्य जीव को ही प्राप्त होती हैं।

क्योंकि इस चौरासी लाख योनि और एक सौ साढ़े निन्यानवे लाख करोड़ कुलों में मानव पर्याय मिलना महासौभाग्य की बात है, उसमें भी हमें जहाँ जिनधर्म का प्रचार है ऐसे देश की प्राप्ति हुई है और उसमें भी समीचीन तत्त्व को जानने की बुद्धि जो असंख्य भवों में नहीं मिलती ऐसी विवेकबुद्धि का मिलना सुलभ नहीं होता। जब बोध का

होना ही दुर्लभ है फिर बोधि तो महादुर्लभ है। प्रबल पुण्य योग से यह संयोग मिल पाता है। महानुभाव! स्वहित का उपदेश देने वाले यतिजनों का पाया जाना यूँ तो मुश्किल है, प्रमादी जीव को आत्म-कल्याण के निमित्त रूप वह धर्म का श्रवण होना सुलभ नहीं होता और जब पुण्य के उदय से जिनराज की वाणी मुनिराज के मुख से हम सुन पा रहे हैं तो उसमें श्रद्धा करनी चाहिए। अब धर्माचरण में प्रमादी नहीं होना चाहिए। जिनदीक्षा को प्राप्त कर उत्तमसमाधि पूर्वक रत्नत्रय के संस्कारों से इस आत्मा की शोभा को बढ़ाना चाहिए। यदि अभी भी इस दुर्लभ बोधि को प्राप्त कर चूक हो गई तो यह हमारी महामूढ़ता ही मानी जाएगी। जैसे कोई व्यक्ति रत्नों के पहाड़ पर बड़ी कठिनाई से चढ़ता है और प्रमाद कर वहाँ से गिर जाए।

महानुभाव! एक बार प्रमादवश यह बोधि नष्ट हो गई तो प्राप्त होना महादुर्लभ है। इस संसार रूपी वन के वृक्षों को काटने में यह बोधिदुर्लभ भावना का चिन्तवन पैनी कुल्हाड़ी के समान है। यह चिन्तन जिस चित्त में स्थिरता को प्राप्त होता है उसे इस महाबोधि का मुक्तिरूपी निर्दोष फल अवश्य प्राप्त होता है। हम अपना जीवन सफल और सार्थक करें इन्हीं सद्भावनाओं के साथ....

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

बोधिदुर्लभ भावना संबंधित उपयोगी श्लोक व गाथाएँ

अनन्तशः संसरतोऽस्य जन्तोः सुदुर्लभा बोधिरिति प्रचिन्त्य।
तां प्राप्य तस्मिन्न खलु प्रमादः कर्त्तव्य इत्येव हि बोधिभिन्ना॥

–31/96–वरांग च., आ. जटासिंहनन्दि जी

यह जीव संसार मे अनन्तों बार जन्म–मरण कर चुका है तो भी इसे सब कुछ पाकर भी केवल एक ज्ञान ही प्राप्त नहीं हुआ है। यही समझकर यदि इसे कभी सत्यज्ञान प्राप्त हो जाए तो उसके संरक्षण और वर्द्धन में कभी प्रमाद नहीं करना चाहिए, इसे ही बोधि–दुर्लभ भावना कहते हैं।

सुप्रापं तु पुनः पुंसां बौधिरत्नं भवार्णवे।
हस्ताद् भ्रष्टं यथा रत्नं महामूल्यं भवार्णवे।।89।।

–ज्ञाना., आ. शुभचन्द्र जी

जिस प्रकार हाथ से भ्रष्ट होकर महासमुद्र के भीतर गया हुआ अतिशय मूल्यवान् रत्न पुनः सरलता से प्राप्त नहीं हो सकता है उसी प्रकार इस संसाररूप समुद्र में सौभाग्य से प्राप्त हुआ अमूल्य बोधिरत्न (रत्नत्रय) मोक्षमार्ग नष्ट हो जाने पर पुनः सरलता से प्राप्त नहीं हो सकता है।

उप्पज्जदि सण्णाणं, जेण उवाएण तस्सुवायस्स।
चिंता हवेइ बोहो अच्चंतं दुल्लहं होदि॥83॥

–बा.अ., आ. कुंदकुंद स्वामी जी

जिस उपाय से सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होता है उस उपाय की चिंता बोधि है। यह बोधि अत्यन्त दुर्लभ है।

इंद्रियार्थसुखे येन मानुष्यं प्राप्य योज्यते।
भस्मार्थं प्लोषते काष्ठं महामौल्यमसौ स्फुटम्॥1921॥

– मरणकंडिका, आ. अमितगति जी

जो महादुर्लभ मनुष्य जन्म को प्राप्त करके उसे इंद्रियों के विषय सुख में लगाता है, वह निश्चय ही महामूल्यवान् हरिचंदन आदि रूप श्रेष्ठ काष्ठ को राख के लिए जलाता है।

प्राचुर्यं गर्ह्यं भावानां महत्त्वं जगतोऽङ्गिनाम्।
विधत्ते योनिबाहुल्यं मानुष्यं जन्म दुर्लभं॥1959॥म.कं.

संसार में जीवों के निंदनीय अशुभ भावों की अत्यधिक प्रचुरता है। अशुभ भाव से अशुभ ही एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, नरक आदि योनियों की प्राप्ति होती है, ऐसे कुयोनि बहुलता के मध्य में मनुष्य जन्म अति दुर्लभ है।

देशो जातिः कुलं रूपमायुर्नीरोगता मतिः।
श्रवणं ग्रहणं श्रद्धा नृत्वे सत्यपि दुर्लभम्॥1960॥म.कं

दुर्लभ मनुष्य पर्याय मिलने पर भी जिनधर्मयुक्त देश, उच्च जाति, कुल, सुंदररूप, दीर्घायु, निरोग शरीर, हेयोपादेयबुद्धि जिनधर्म श्रवण, ग्रहण और श्रद्धा अत्यंत दुर्लभ है।

रत्नत्रय परिप्राप्तिर्बोधिः सातीव दुर्लभा।
लब्धा कथं कथं चिच्चेत् कार्यो यत्नो महानिह॥6/55॥

–प. पंच., आ. पद्मनन्दि जी

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र स्वरूप रत्नत्रय की प्राप्ति का नाम बोधि है, यह बहुत ही दुर्लभ है। वह

जिस किसी प्रकार से प्राप्त हो जाती है तो फिर उसके विषय में महान् प्रयत्न करना चाहिए।

संसारम्मि अणंते जीवाणं दुल्लहं मणुस्सत्तं।
जुगसमिलासं जोगो जह लवणजले समुद्दम्मि।।1861।।

—भ.आ., आ. शिवकोटि जी

जैसे लवणसमुद्र के पूर्व भाग में जुआ और पश्चिम भाग में उसकी लकड़ी डाल देने पर दोनों का संयोग दुर्लभ है उसी प्रकार अनंत संसार में मनुष्य भव का पाना दुर्लभ है।

इय दुलहं मणुयत्तं लहिऊणं जे रमन्ति विसएसु।
ते लहिय दिव्वरयणं भूइणिमित्तं पजालंति।।300।।

—का.अ., आ. कार्तिकेय जी

ऐसा यह दुर्लभ मनुष्यत्व पाकर भी जो इन्द्रियों के विषय में रमण करते हैं वे दिव्य रत्न को पाकर उसे भस्म करने के लिए जलाते हैं।

उप्पज्जदि सण्णाणं, जेण उवाएण तस्सुवायस्स।
चिंता हवेइ बोही, अच्चंत दुल्लहं होदि।।83।।

—आ. कुन्दकुन्द स्वामी, बारसाणुवेक्खा

जिस उपाय से सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होता है उस उपाय की चिंता करना बोधि है, जो अत्यंत दुर्लभ है।

संसारेऽत्र च दुःखराशि विकटे नृत्वं कुलं चोत्तमं,
स्वायुः कायमनामयं खसकलं सारं विवेकं वृषम्।

चिन्तारत्नमिवातिदुर्लभतरं दक्षं मनोदृक्श्रुतं,
बुद्ध्वेत्याशु जना यतध्वमनिशं धर्मे च रत्नत्रये॥15/122॥

–श्री पार्श्वनाथ चरितम्, आ. सकलकीर्ति जी

दु:ख-समूह से परिपूर्ण इस संसार में मनुष्यभव, उत्तमकुल, दीर्घ आयु, नीरोग शरीर, इन्द्रियों की पूर्णता, श्रेष्ठ विवेक, धर्म, समर्थ मन सम्यक्त्व और सम्यग्ज्ञान ये सब चिन्तामणि के समान अत्यन्त दुर्लभ हैं, ऐसा जानकर हे ज्ञानीजन हो! धर्म तथा रत्नत्रय के विषय में शीघ्र ही निरन्तर प्रयत्न करो।

मानुष्यं सकलेन्द्रियं च सुकुलं बोध्यादिकं दुर्लभं॥5/107॥

–श्री मल्लिनाथ पु., आ. सकलकीर्ति स्वामी जी

संसार में मनुष्य भव पाना, समस्त इन्द्रियों का पूरा होना, उत्तम कुल का मिलना एवं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चारित्र स्वरूप बोधि का होना महादुर्लभ है। बड़ी कठिनता से इनकी प्राप्ति होती है, इस प्रकार का चिन्तवन करना बोधिदुर्लभ भावना है।

मोक्षारोहणनिश्रेणिः कल्याणानां परम्परा।
अहो कष्टं भवाम्भोधौ बोधिर्जीवस्य दुर्लभा॥6/41॥

–तत्वार्थसार, आ. अमृतचंद्र सूरि जी

देखो! यह बड़ा कष्ट है कि जो मोक्ष तक चढ़ने के लिए सीढ़ियों के समान है, कल्याणों की परम्परा है ऐसी बोधि अर्थात् रत्नत्रय की प्राप्ति संसार-सागर में जीव के लिए अत्यन्त दुर्लभ हो रही है।

भव-सरीर-भोयादो, विरत्ती अच्चतं-दुल्लहा होज्ज।
दुल्लहं सम्मचरियं, थिरभावा सिवमग्गे तहा॥250॥

–अणुवेक्खा-सारो, आ. वसुनंदी मुनि

संसार-शरीर और भोगों से विरक्ति अत्यन्त दुर्लभ होती है, सम्यक् चारित्र प्राप्त होना दुर्लभ है तथा मोक्षमार्ग में स्थिर परिणामों का होना अति दुर्लभ है।

दुल्लहं बोहिगहणं कम्मक्खयभावणा य दुल्लहा हु।
लहिच्चु सव्वपदत्था, णो करेदि हिदं मूढो सो॥254॥

–अणुवेक्खा-सारो, आ. वसुनंदी मुनि

निश्चय से बोधि अर्थात् रत्नत्रय को ग्रहण करना दुर्लभ है और कर्मों को क्षय करने की भावना दुर्लभ है तथा जो समस्त पदार्थों को प्राप्त करके भी हित नहीं करता है वह मूर्ख जानना चाहिए, इस प्रकार का चिन्तवन करना बोधि दुर्लभ भावना है।

बोधि स्याद्दर्शन ज्ञान चारित्र प्राप्ति रञ्जसा।
सा दुर्लभाऽत्र संसार सागरे सरतां नृणाम्॥79॥
यथा चिन्तामणेः प्राप्तिश्शर्म सन्दोहदायिनी।
मत्वेति च समाराध्यं रत्नत्रयमखण्डितम्॥10/80॥

–श्रीपाल चरित्र, आ. सकलकीर्ति जी

जिस प्रकार संसार में चिन्तामणि रत्न प्राप्त होना दुर्लभ है, उसी प्रकार संसार में परिभ्रमण करते हुए मनुष्यों को रत्नत्रय रूप बोधि की प्राप्ति महान् कठिन है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की प्राप्ति का नाम बोधि है।

यह सहसा जीव को प्राप्त नहीं होती। महान् प्रयत्नों से और अत्यन्त कठिनता से प्राप्त होती है। अतः भव्यात्माओं को निरन्तर यथाशक्ति यथानुरूप उसे पाने का प्रयत्न करना चाहिए।

रयणं चउप्पहेपिव मणुअत्तं सुट्ठु दुल्लहं लहिय।
मिच्छो हवेइ जीवो, तत्थ वि पावं समज्जेदि॥

–यशोधर चरित्र, पुष्पदंत कवि

तिर्यंच योनि से निकलकर चतुष्पथ में पड़े हुए रत्न की भांति मनुष्य पर्याय अति दुर्लभ है, परंतु ऐसी मनुष्य पर्याय में भी म्लेच्छ होकर यह जीव पापोपार्जन करता है।

स्थावरे त्रसकुलेऽखिलेन्द्रियैः पूर्णतादिषु सुधर्मलक्षणा।
बोधिलब्धिरतिदुर्लभा भवेत्सत्समाधिमरणाप्तिसत्फला॥63/89॥

–हरिवंश पुराण, आ. जिनसेन स्वामी

प्रथम तो निगोद से निकलकर अन्य स्थावरों में उत्पन्न होना ही दुर्लभ है फिर त्रसपर्याय पाना दुर्लभ है, त्रसों में भी इन्द्रियों की पूर्णता होना दुर्लभ है और इन्द्रियों की पूर्णता होने पर भी समीचीन धर्म जिसका लक्षण है एवं उत्तम समाधि का प्राप्त होना जिसका फल है, ऐसी बोधि अर्थात् रत्नत्रय की प्राप्ति होना अत्यन्त दुर्लभ है।

12.

धर्म अनुप्रेक्षा

प्राणी को भव दुःख से, मुक्ति सदन ले जाए।
वही धरम परमार्थ से, सत्य धर्म कहलाए॥
सत्य धर्म कहलाए वस्तु का भाव धर्म है।
अहिंसादि व्रत पाँच और सत्यार्थ कर्म है॥
कहें सूरि वसुनंदि, क्षमादि जानो ज्ञानी।
रत्नत्रय भी धर्म, सुनो जगभर के प्राणी॥

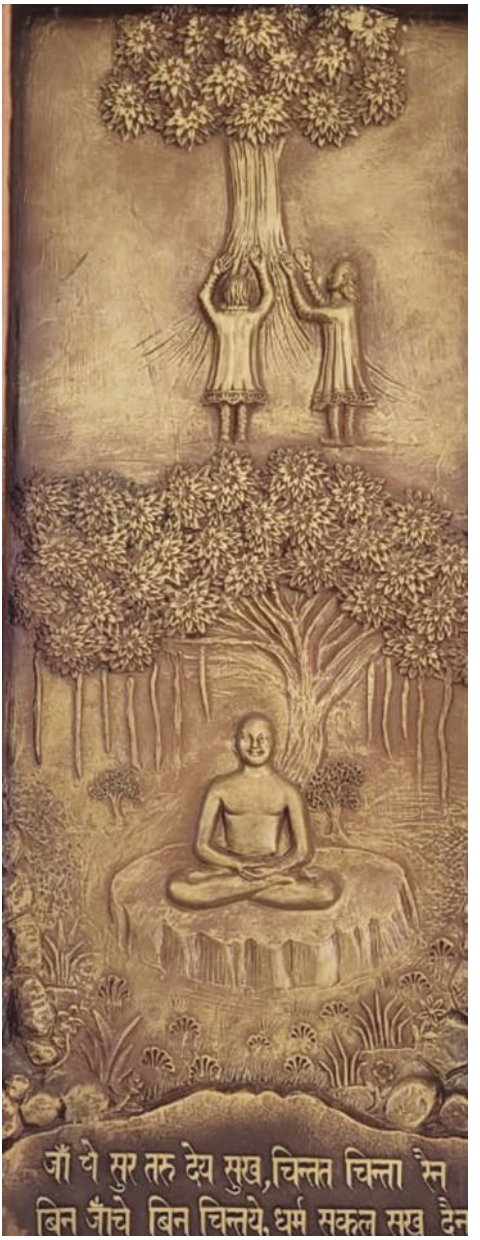
जाँ चे सुर तरु देय सुख, चिन्तत चिन्ता रैस
बिन जाँचे बिन चिन्तये, धर्म सकल सुख दैन

धर्म अनुप्रेक्षा

महानुभाव!

विगत दिवस देख रहे थे कितना दुर्लभ है मनुष्य भव का प्राप्त करना, मनुष्य भव को प्राप्त करके उत्तम देश, उत्तम संगति, धर्मध्यान का कारण स्वरूप देव-शास्त्र-गुरु का सान्निध्य, संयम की सम्प्राप्ति ये सभी क्रमशः दुर्लभ, दुर्लभतर, दुर्लभतम हैं। पर सबसे दुर्लभ कहा बोधिदुर्लभ। अर्थात् निश्चय रत्नत्रय।

वह निश्चय रत्नत्रय कर्मभूमि के मनुष्य के अतिरिक्त अन्य किसी को प्राप्त नहीं होता। व्यवहार रत्नत्रय भी कर्मभूमि के मनुष्य को प्राप्त होता है। एकदेश रत्नत्रय की प्राप्ति तिर्यंच अवस्था में भी संभव है।

महानुभाव! अंतिम भावना है धर्म भावना। धर्म क्या है? धर्म के बारे में चिंतन करना जरूरी क्यों है? धर्म को तो धारण करना चाहिए, धारण करके ही तो आत्मा का कल्याण संभव है। केवल धर्म के बारे में भावना भाते-भाते क्या धर्म की प्राप्ति हो जाएगी? यदि केवल भावना भाने से धर्म की प्राप्ति हो जाए तो फिर धर्म को धारण क्यों करना, और धारण करने से ही प्राप्ति होती है तो फिर भावना क्यों भाना? पहले भावना भाना जरूरी होता है यह क्रम है, भावना के बाद उपासना होती है, उपासना के उपरांत साधना होती है और साधना साध्य तक ले जाने में समर्थ कारण होती है। बिना भावना के उपासना मिथ्या होती है।

बिना उपासना के साधना निःसार होती है, बिना साधना के साध्य की सिद्धि शून्यवत् होती है।

धर्म की पहले भावना करना जरूरी है। हमें जो कुछ भी चाहिए उसे प्राप्त करने की ललक-प्यास जब जाग्रत होती है तभी हमें वह वस्तु उपलब्ध होती है। बिना प्यास के कोई वस्तु उपलब्ध हो जाए तो उसका सम्यक् सदुपयोग नहीं किया जा सकता। पानी का मूल्य प्यास के कारण है, जिसे प्यास नहीं है उसे पानी का कोई मूल्य नहीं है। भोजन का मूल्य भूख के कारण है, जिसे भूख नहीं है उसके जीवन में भोजन का कोई मूल्य नहीं है। इसी प्रकार जीवन में जिस-जिस वस्तु की जब-जब आवश्यकता पड़ती है तब-तब उस वस्तु की कीमत हमारी दृष्टि में दृष्टिगोचर होती है। बिना आवश्यकता के बहुमूल्य वस्तु भी निर्मूल्य मानी जाती है।

महानुभाव! कहने का आशय यह है पहले धर्म की आवश्यकता हमारे जीवन में होना चाहिए, धर्म वह चीज है जिसके माध्यम से आत्मा को परमात्मा बनाया जाता है।

पद्मपुराण में एक कथा वर्णित है। एक बार राजा वज्रकर्ण, जो क्रूर, व्यसनी था; शिकार खेलने के लिए एक अटवी में पहुँचा। उसने वहाँ एक शिला पर विराजमान साधु को देखा। वह हाथ में भाला लेकर उन साधु के पास पहुँचा और बोला हे साधो! यह क्या कर रहे हो? साधु ने कहा—जो पूर्व में न कर सका ऐसा आत्महित कर रहा हूँ। वह हँसते हुए बोला—क्या वस्त्राभूषणादि से रहित व्यक्ति

सुखी हो सकता है? नहीं, तो आत्महित कैसे करोगे? यह सुन मुनिराज ने उसे उपदेश दिया अहो राजन्! जो तुम हजारों प्राणियों का घात करते हो, व्यसनों में तत्पर रहते हो, इन कुकृत्यों से नरक में जाना पड़ेगा। ये वन्य प्राणी निरपराधी, मूक, दयनीय हैं, ये वैसे ही अपना पाप भोग रहे हैं, इन्हें मारकर क्यों भयंकर पाप का अर्जन करते हो। यदि आत्मा का हित चाहते हो तो हिंसा का त्याग कर अहिंसा का पालन करो।

मुनिराज का उपदेश सुन वह ऐसे पिघल गया जैसे सूर्य के ताप से घृत। उसने तभी मुनिराज से गृहस्थ धर्म स्वीकार किया। अणुव्रत स्वीकार किए एवं प्रतिज्ञा की कि मैं जिनदेव, जिनागम व निर्ग्रन्थ गुरुओं को छोड़कर अन्य किसी को नमस्कर नहीं करूँगा। हर नियम, हर प्रतिज्ञा की परीक्षा तो होती ही है। एक बार वज्रकर्ण की भी परीक्षा की घड़ी आयी। राजा सिंहोदर का सेवक होने से उसके सामने झुकना जरूरी था किंतु अब वह नियम ले चुका था। उसने विचारकार मुनिसुव्रतनाथ भगवान् की प्रतिमा से युक्त एक स्वर्ण की अंगूठी बनवाकर हाथ में धारण की और दरबार में खड़े होकर उसी मूर्ति को नमस्कार करता।

लेकिन ऐसा भी ज्यादा समय नहीं चला। किसी छिद्रान्वेषी बैरी ने राजा सिंहोदर से उसकी शिकायत कर दी जिससे राजा बहुत क्रोधित हुआ। राजा सिंहोदर ने तत्काल उसे मारने का निर्णय लिया। उसने राजा वज्रकर्ण पर चढ़ायी कर दी और दूत भेजकर कहलवाया कि ''या तो तू अर्थात् वज्रकर्ण आकर मुझे (सिंहोदर को) प्रणाम करे या मृत्यु प्राप्त कर।''

इतने पर भी धर्म से संयुक्त उस वज्रकर्ण ने कहा कि प्रभो! मेरा नगर, सेना, खजाना व देश सब कुछ ले लो किन्तु मेरी रानी सहित मुझको धर्म का मार्ग दीजिए, मेरे धर्म में बाधा मत डालिए। मैं अपना नियम कभी नहीं तोडूँगा।

यह सुनते ही सिंहोदर ने क्रोध से आग लगाकर पूरा नगर उजाड़ दिया किंतु वज्रकर्ण ने अपना धर्म नहीं छोड़ा। हमसे चाहे कुछ भी छूट जाए किंतु जीवन में संकल्प कर लेना कि हम धर्म को नहीं छोड़ेंगे। आप लोग भजन की पंक्ति भी सुनते हैं–

''तन छूटे पर धर्म न छूटे।''

धर्म एक औषधि है जिसके माध्यम से जन्म-जरा-मृत्यु जैसे रोगों का विनाश किया जाता है। धर्म एक रसायन पदार्थ है जिसके प्रयोग से रासायनिक प्रक्रिया करते हुए इस आत्मा में विद्यमान किट्ट-कालिमा को नष्ट करके इसे शुद्ध किया जाता है। जैसे अग्नि के माध्यम से धातुओं का शोधन किया जाता है वैसे ही धर्म के एक अंग 'तप' की अग्नि के माध्यम से, ध्यान की अग्नि के माध्यम से आत्मा को परिशुद्ध किया जाता है।

महानुभाव! अर्हंत भगवान् द्वारा प्रतिपादित धर्म की भावना से मोक्षप्राप्ति तक सम्पूर्ण कल्याण परंपरा प्राप्त होती है। मनुष्यगति के अभ्युदय सुख के साथ अंतिम व सर्वोत्कृष्ट निःश्रेयस सुख की प्राप्ति भी इसी धर्म के माध्यम से जीव को होती है। भव्य जीवों को जिनेन्द्र प्रभु कथित रत्नत्रय धर्म की सदा भावना, आराधना करनी चाहिए, उस धर्म को धारण करना चाहिए। धर्म से ही यह जीव सुभग, सुंदर व

पूज्य होता है, सर्वजनप्रिय, विश्वासी बनता है। अन्य कार्य जो अर्थ (धन) उपार्जन आदि के पुरुषार्थ हैं उनसे यह धर्म पुरुषार्थ सुसाध्य व सरल है।

महानुभाव! इस संसार में सर्व सुखों को देने वाला पुनः सांसारिक सुखों को देकर अंत में बाधारहित सुखों से पूर्ण शाश्वत स्थान मोक्ष धाम पहुँचाने वाला भी यह धर्म ही होता है। इस संसार में वे ही मनुष्य धन्य माने जाते हैं जो मनुष्य पर्याय में मन को लुभाने वाले विषयों के मध्य फँसने पर भी महान् जिनदीक्षा लेकर रत्नत्रय की आराधना करते हैं। आचार्य भगवन् रविषेण स्वामी जी ने धर्म का माहात्म्य बताते हुए लिखा–

परमाणोः परं स्वल्पं न चान्यन्नमसो महत्।
धर्मादन्यश्च लोकेस्मिन् सुहृन्नास्ति शरीरिणाम्॥ (39, सर्ग-4)

जिस प्रकार इस संसार में परमाणु से छोटी कोई चीज नहीं, आकाश से बड़ी कोई वस्तु नहीं उसी प्रकार प्राणियों का धर्म से बड़ा कोई मित्र नहीं।

महानुभाव! इस त्रिलोकात्मक संसार में हित चाहने वाले लोगों को एक धर्म ही परम शरण है, उसी से उत्कृष्ट सुख प्राप्त होता है। जिस प्रकार बिना मेघों के वृष्टि नहीं हो सकती, बिना बीज के अनाज उत्पन्न नहीं हो सकता उसी तरह बिना धर्म के जीवों के सुख उत्पन्न नहीं हो सकता।

जब धर्म से ही मनुष्य संबंधी भोग, स्वर्ग और मुक्त जीवों को सुख प्राप्त हो जाता है तब दूसरा कार्य करने से क्या लाभ? यद्यपि अन्यलिंगी, हंस-परमहंस, परिव्राजक

आदि भी तपश्चरण की शक्ति से ऊपर जा सकते हैं, स्वर्गों में उत्पन्न हो सकते हैं तथापि वे वहाँ किंकर होकर अन्य देवों की उपासना करते हैं, वे वहाँ देव होकर भी कर्मवश दु:ख पाकर स्वर्ग से च्युत होते हैं व दु:खी होते हुए तिर्यंच योनि प्राप्त करते हैं। जो सम्यग्दर्शन से युक्त हैं, जिन्होंने जिनशासन का अच्छी तरह अभ्यास किया है, पालन किया है वे स्वर्ग जाते हैं, वहाँ से च्युत होने पर रत्नत्रय धर्म को पाकर उत्कृष्ट मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

महानुभाव! धर्म एक ऐसा शाश्वत मिष्ट पदार्थ है जिसे प्राप्त करना प्रत्येक आत्मा के लिये इष्ट होता है। आटे में यदि शक्कर पड़ जाए तो आटा मीठा हो जाता है इतना ही नहीं गन्ने के रस की एक बूंद भी मिट्टी पर गिरती है तो मिट्टी भी मीठी हो जाती है ऐसे ही किसी भी संसारी प्राणी के जीवन में धर्म का प्रादुर्भाव होता है तो वह प्राणी उस धर्म के माध्यम से इतर पदार्थों को प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है और प्रत्येक भव्य का इष्ट पदार्थ है स्वयं के शाश्वत सुख को प्राप्त कर लेना, अपनी प्रकृति-नियति-स्वभाव को प्राप्त कर लेना। आत्मा का स्वभाव है परमात्मा बन जाना, परमात्मा का स्वभाव है संसार के जन्म-मरण से मुक्त हो जाना इसीलिए धर्म का स्वरूप बताते हुए आचार्यों ने कहा–**'धम्मो वत्थु सहावो'** वस्तु का स्वभाव धर्म है और धर्म ही वस्तु का स्वभाव है। जिस वस्तु का जैसा स्वभाव है वही उसका धर्म है। धर्म उससे अतिरिक्त नहीं है। यह परिभाषा निश्चय की अपेक्षा से बिल्कुल ठीक है किन्तु

बिना व्यवहार धर्म का आश्रय लिए निश्चयधर्म की प्राप्ति नहीं हो सकती।

व्यवहार सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्र प्राप्त करने के लिये, उसमें विशुद्धि लाने के लिए दस धर्म हैं, लक्षण स्वरूप। जो आत्मा का लक्षण उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन, उत्तम ब्रह्मचर्य ये धर्म के दश लक्षण हैं। ये भी धर्म हैं। लक्षण आत्मा के स्वभाव हैं अलग नहीं, इनसे धर्मात्मा की पहचान होती है। अथवा एक शब्द में कहें– **'जीवानां रक्षणं धम्मो'**

जीवों की रक्षा करना धर्म है इसे आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा–**'धम्मो दया विसुद्धो'** अथवा एक अमोघ वाक्य है–**'अहिंसा परमो धर्मः'** किसी जीव का मन से, वचन से, काय से घात नहीं करना, हिंसा का सम्पूर्ण त्याग कर देना यह धर्म है। अहिंसा धर्म इसलिए परम धर्म कहा। यह धर्म आज भी है, कल भी था और आगे भी रहेगा। क्यों? क्योंकि ये आत्मा का स्वभाव है। आत्मा अनादिकाल से है तो धर्म भी अनादिकाल से है। जैसे अग्नि का स्वभाव उष्णता होता है, जल का स्वभाव शीतलता होता है, वायु का स्वभाव बहना होता है, स्थिरता नहीं होता, घृत आदि स्निग्ध पदार्थों का स्वभाव चिकना होता है, बालू आदि का स्वभाव रुक्षपना होता है, ऐसे ही आत्मा का स्वभाव है स्वाभाविक अवस्था में रहना, वैभाविक अवस्था का परित्याग कर देना।

वह धर्म इन्द्रभूति गौतम स्वामी के शब्दों में जानते हैं–

धम्मो मंगल मुक्किट्ठं अहिंसा संयमो तवो।
देवा वि तं णमंसंति जस्स धम्मे सयामणो॥

धर्म क्या है– धर्म लोकमंगल है, धर्म के माध्यम से ही लोक में मंगल होता है। मंगल का अर्थ होता है पापों का नाश करने वाला, पापों को गलाने वाला, उत्तमोत्तम सुखों को देने वाला। धर्म ही लोक में उत्तम है उससे श्रेष्ठ और कोई वस्तु नहीं है। जो कुछ भी लोक में आपको श्रेष्ठ दिखाई देता है यहाँ तक कि अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु यह भी धर्म के माध्यम से ही है। तीर्थंकर आदि महापुरुषों की प्रवृत्ति भी धर्म के माध्यम से ही होती है। धर्म शाश्वत है। कोई भी व्यक्ति शाश्वत नहीं हो सकता क्योंकि उसकी पर्याय नष्ट हो जाती है पुनः दूसरी पर्याय प्राप्त होती है इसलिए धर्म के माध्यम से ही महापुरुष आत्माएँ पूज्य बनती हैं।

अतः धर्म सर्वोत्कृष्ट है। इसलिए सबसे श्रेष्ठ संसार में एक ही शरण है, वह है धर्म। धर्म की शरण को प्राप्त करना चाहिए। जो मंगल है, वही उत्तम है, वही शरणभूत है। जो मंगल नहीं है वह संसार में उत्तम भी नहीं हो सकता और जो उत्तम नहीं है, मंगल नहीं है वह शरणभूत भी नहीं हो सकता। वह धर्म अहिंसा-संयम और तप इन तीन रूप में स्वीकार किया गया है। ये तीन रूप एक ही हैं। अहिंसा में भी संयम और तप का समावेश होता है। अहिंसा का जितना विस्तार करते चले जाओ ये दोनों अंग आपको उसी

में दृष्टिगोचर हो जाएँगे किन्तु प्रारंभ अहिंसा से होता है। अव्रती व्यक्ति के जीवन में पहले अहिंसा का भाव जाग्रत होता है। जैसे ही संसार-शरीर-भोगों से विरक्ति होती है अहिंसा का भाव जाग्रत होता है, जैसे ही किसी व्यक्ति को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है सबसे पहले अहिंसा का भाव आता है। सम्यक् दृष्टि सम्यक्त्व को प्राप्त करते ही सबसे पहले हिंसा का परित्याग करता है, मैं जीव घात नहीं करूँगा, अब्रह्म का सेवन नहीं करूँगा या चोरी नहीं करूँगा, झूठ नहीं बोलूँगा अथवा परिग्रह संचय नहीं करूँगा इन सबके पीछे छिपा हुआ है अहिंसा धर्म।

अहिंसा धर्म के लिये ही जीव व्रतों को स्वीकार करता है। वह अपने जीवन में अहिंसा का विस्तार करता जाता है। अहिंसा केवल शारिरिक क्रियाओं में नहीं अपितु अहिंसा वचनों में भी हो, अहिंसा केवल वचनों में नहीं अपितु मन में भी हो और जब तक मन में अहिंसा रहती है, दया-करुणा का भाव रहता है तब तक जीव अपने मारने वाले को भी मारता नहीं है। मुनिराज के मन में जब तक अहिंसा का भाव है तब तक मुनिराज के ऊपर कोई उपसर्ग भी कर दे, तो भी मुनिराज उसकी रक्षा ही करेंगे, उसका घात नहीं करेंगे, उसके प्रति भी उनके मन में मैत्री भाव है, उसके प्रति भी मन में करुणा-दया का भाव है। वे यही भावना भाएँगे कि ये अज्ञानी पुरुष है यह नहीं जानता कि यह क्या कृत्य कर रहा है किन्तु विद्वेष का भाव नहीं रखेंगे जैसे ही व्यक्ति के चित्त से अहिंसा निकल जाती है वह हिंसक हो

जाता है, ऐसा हिंसक व्यक्ति अपनी रक्षा करने वाले की भी हत्या कर देता है, ऐसा व्यक्ति अपने माता-पिता का भी घात कर देता है।

लोक धर्म कहता है पहले उसने मुझे मारा फिर मैंने वार किया किन्तु अहिंसा धर्म कहता है चाहे कोई भी संसार में मारने वाला हो, जिसके मन में अहिंसा होती है वह किसी को मारता नहीं है। कहता है मैं क्यों किसी को मारूँ, मारना मेरा स्वभाव नहीं है। मेरा स्वभाव तो अपने आप में रहना है और मेरी आत्मा को कोई मार नहीं सकता, इसलिए आचार्य भगवन् गुणभद्र स्वामी जी ने 'आत्मानुशासन' ग्रंथ में लिखा है–

धर्मो वसेन् मनसि यावदलं च तावद्,
हन्ता न हन्तुरपि पश्य गतेऽथ तस्मिन्।
दृष्ट्वा परस्पर हते र्जनकात्मजानाम्,
रक्षा ततोस्य जगतः खलु धर्म एव॥

जब तक उस जीव के मन में धर्म का भाव है तब तक मारने वाले की भी रक्षा कर रहा है। उसकी रक्षा के लिये स्वयं कष्ट को स्वीकार कर रहा है, यहाँ तक कि दूसरों की रक्षा करने के लिये अपने प्राण भी विसर्जन करने पड़ें तब भी प्राण विसर्जित कर देगा किन्तु दूसरों के प्राण नहीं लेगा और यदि मन में धर्म का भाव नहीं है तो देखा जाता है पिता पुत्र का और पुत्र पिता का वध तक कर देता है। अहो! जगत् में एक धर्म ही रक्षक है। जहाँ-जहाँ पर धर्म

है, वहाँ वहाँ पर सुरक्षा है, सुख है, शांति है, हर्षमय जीवन है। धर्म के बिना जीवन मृत है और धर्म के साथ अमृत है। लोक में कहा जाता है जो व्यक्ति अमृत प्राप्त कर लेता है वह अमर हो जाता है, ऐसे ही जो व्यक्ति अपने जीवन में धर्म रूपी अमृत प्राप्त कर लेता है वह अमरत्व अर्थात् सिद्धत्व को प्राप्त करता है अन्यथा अधर्म का विष जीव के आत्मगुणों का नाशकर उसे भवभ्रमण कराते हुए बहुत दु:खों का पात्र बना देता है।

देखो! यदि कहीं गैस का सिलेंडर लीक हो रहा हो, गैस की smell आ रही हो तो आप लोग क्या करेंगे? रेगुलेटर बंद करेंगे। क्यों? क्योंकि यदि बंद नहीं किया तो आग लग जाएगी। बस, यही मैं आपसे कहना चाहता हूँ हमारे अंदर से अधर्म की gas leak न हो। जिसके जीवन में अधर्म की gas leak होती है उसके जीवन में क्रोध, बैर, वैमनस्यता की आग लग जाती है। उस अधर्मी की आत्मा में अवगुणों की उत्पत्ति होती है, वह अपना जीवन व्यसनादि में नष्ट कर देता है। तो ध्यान रखना जीवन में अधर्म की gas leak न हो। हमारे आचार, विचार, व्यवहार, वाणी सभी में धर्म परिलक्षित होना चाहिए।

महानुभाव, अहिंसा, धर्म का प्राण है। यदि धर्म में से अहिंसा निकल जाए तो कुछ नहीं बचता। अहिंसा जननी के समान रक्षा करने वाली है, पोषण करने वाली है। ज्यों-ज्यों अहिंसा का विस्तार होता है त्यों-त्यों संयम अपने आप जीवन में आने लगता है।

अहिंसा बीज की तरह से है और संयम अंकुर की तरह से, छोटे पौधे की तरह से है। अहिंसा ज्यों-ज्यों विस्तार को प्राप्त होती है त्यों-त्यों जीवन में संयम आता है। कायिक संयम-वाचनिक संयम और मानसिक संयम ये तीन प्रकार का संयम जीवन में आता है। अथवा दूसरे शब्दों में कहें इन्द्रिय संयम और प्राणी संयम दोनों संयम आते हैं। अहिंसक व्यक्ति पंचस्थावर जीव और त्रसकायिक इन षट्कायिक जीवों की रक्षा करता है, अहिंसक जीव पाँच इन्द्रिय और मन इन छः पर नियंत्रण करता है, अहिंसक जीव पाँच पापों से विरक्त हो जाता है। संयम ज्यों-ज्यों वृद्धि को प्राप्त होता जाता है धर्म का वृक्ष बढ़ता है और उस पर तप के पुष्प खिलने लगते हैं, चारित्र आ जाता है।

चारित्र की निर्मलता ही धर्म है। चारित्र का सावधानीपूर्वक, समितिपूर्वक पालन करना ही संयम है। संयम का वृक्ष जब बहुत सघन हो जाता है तब उस पर तप के पुष्प महकने लगते हैं, आत्मा आनंदित हो जाती है। किन्तु अभी जो तप के माध्यम से आनंद आ रहा है वह पुष्पों की सुगंध की तरह से है, वह शाश्वत नहीं है। उस पुष्प का अंतिम फल है ध्यान। वह ध्यान, तप का ही एक भेद है। ध्यान अंतरंग तप है। जब वह आत्मा ध्यान में संलग्न हो जाती है तब अपने शुद्ध स्वभाव को प्राप्त करने में समर्थ हो जाती है, शरीर में रहते हुए भी वह आत्मा अपने आप को देहातीत अनुभव करती है, फिर आत्मा चाहे संसार में रहे या सिद्धालय में उसे वही सुख मिलता है जो आत्मा का

वास्तविक स्वभाव है। अरिहंत भगवान् के पास शरीर होते हुए भी वे अरिहंत परमेष्ठी उस अनंत सुख का अनुभव करते हैं और सिद्ध परमेष्ठी शरीर से रहित होकर उस सुख का अनुभव करते हैं, किसके माध्यम से? उन्होंने पूर्व में ही आत्मा को अन्तर्मुहूर्त के लिए आत्मा में लीन करके देखा, जो सुख का अनुभव हुआ, वह भले ही एक क्षण के लिए हुआ किंतु वह ऐसा सुख है जैसा संसार में किसी को नहीं।

'सो इन्द्र, नाग, नरेन्द्र वा अहमिन्द्र के नाहि कह्यो।'

वह सुख इन्द्रों के भी नहीं है, अहमिन्द्रों के भी नहीं है, नरेन्द्र के भी नहीं है, यहाँ तक कि चक्रवर्ती के भी नहीं है और गृहस्थ अवस्था में तीर्थंकर के भी नहीं है, कामदेव, बलभद्र, नारायण आदि के भी नहीं है।

इन्द्रियजेत्ता, कषाय उपशमनकर्ता और संवेग-वैराग्य भाव से युक्त संयमी साधक के ही आत्मा से उत्पन्न होने वाला सुख होता है। वह सुख तीन लोक में दुर्लभ है। इन्द्रभूति गौतम गणधर कहते हैं–

'अहिंसा-संयमो-तवो' अहिंसा, संयम और तप जिसकी आत्मा में निवास करता है स्वर्ग के देवता भी आकर उसे प्रणाम करते हैं, उसका वंदन, पूजन, सत्कार करते हैं।

जो धर्म से युक्त है वह भवन में हो या वन में, देव भी उसकी आकर सहायता करते हैं। आचार्य भगवन् श्री भद्रबाहु स्वामी के शिष्य श्री चंद्रगुप्त मुनिराज के लिए बारह वर्षों तक देवों ने चौका लगाया। किसी धर्म से विमुख-अधर्मी के चरणों में देवों ने स्वयं आकर प्रणाम किया हो, उनकी

सहायता की हो, ऐसा कहीं सुनने पढ़ने में आया है क्या? नहीं आया। अरे! जब एक सामान्य सद्व्यक्ति भी ऐसे व्यक्ति का मान-सम्मान नहीं करना चाहेगा तब देवों की बात तो बहुत दूर है।

आप लोगों ने प्रसंग सुना होगा रामपुरी का। जब राम, सीता व लक्ष्मण को वनवास मिला था, तब एक बार जंगल में सीता को प्यास लगी। तभी वे लोग कुछ ही दूरी पर अरुण गाँव में पहुँच गए। वहाँ वे कपिल नामक ब्राह्मण के यहाँ पहुँचे। ब्राह्मणी के दिए शीतल जल से सीता ने अपनी प्यास शांत की। तभी वहाँ कपिल ब्राह्मण आ पहुँचा और उन सबको देख वह बहुत कुपित हुआ, बाण समान तीक्ष्ण शब्द उसके मुख से निकलने लगे। उसके असहनीय अपशब्दों को सुनकर सीता ने राम से उस निकृष्ट स्थान को छोड़ने को कहा।

किंतु उसके वचन सुनकर जब क्रोध के आवेश में लक्ष्मण उसे मारने चले तो रामचंद्र ने ये कहते हुए रोका अरे! इस बेचारे को क्या करने जा रहे हो? धर्म से विमुख होने से यह तो जीवित भी मृत के समान है। पुनः वहाँ से निकलकर वे एक वन में वट वृक्ष के नीचे पहुँचे। वहाँ निवास करने वाला इभकर्ण नामक यक्ष उनकी तेजस्विता को देख अपने स्वामी के पास पहुँचा। इभकर्ण की बात सुनकर पूतन नामक यक्षाधिपति उस वृक्ष की ओर चला। और जब उन्हें देखा तो अवधिज्ञान से जान लिया कि ये बलभद्र और नारायण हैं। अहो! धर्म का प्रभाव तो देखो उस

यक्षराज ने क्षणभर में उनके लिए एक सुंदर नगरी की रचना कर दी, जो रामपुरी के नाम से विख्यात हुई।

धर्म की महिमा अगम्य है। रोगी के लिए उत्तम औषधि के समान, सागर में डूबने वालों को जहाज के समान, भटके हुए को सुमार्ग के समान, भूखे को भोजन के समान, प्यासे को शीतल जल के समान यह जिनधर्म हमें प्राप्त हुआ है। तीन लोक में धर्म के समान इस प्राणी का कोई हितकारी नहीं है। अतः प्रमाद त्यागकर सदैव धर्म में तत्पर रहो।

जिसके पास यह धर्म नहीं है वह व्यक्ति धर्म के बिना दुःखी रहता है। उसे उसके घरवाले भी सम्मान नहीं देते जहाँ भी जाता है अपमान व तिरस्कार को प्राप्त होता है। यदि धर्म आत्मा में हो तो फिर वह किसी की परवाह नहीं करता, आत्मा का सुख उसे प्राप्त होगा।

महानुभाव! इस प्रकार धर्म की भावना निरन्तर भानी चाहिए। जिनेन्द्र भगवान् ने हमें जो कुछ भी धर्म का स्वरूप बताया, श्रावक के लिये सप्तव्यसन का त्याग करना, अष्टमूलगुणों का पालन करना, विशेष आवश्यक कर्तव्यों का पालन करना इसके साथ-साथ श्रावक के जो बारह व्रत हैं, पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत उनका पालन करना, ग्यारह प्रतिमाओं का पालन करना, इससे वह श्रावक क्रम-क्रम से धर्म के क्षेत्र में बढ़ता चला जाता है। और श्रमण धर्म बताया—सम्पूर्ण पापों का मनसा-वाचा-कर्मणा, कृत-कारित-अनुमोदनापूर्वक जीवनपर्यंत त्याग करना। वह

महाव्रती बन जो भी प्रवृत्ति करता है, यत्नपूर्वक करता है। यद्यपि श्रमण निवृत्ति मार्ग का आकांक्षी होता है, मुझे कोई प्रवृत्ति करनी ही नहीं पड़े। वह गुप्तियों का विशेष पालन करने का प्रयास करता है। पाँच महाव्रतों का संकल्प लेकर सोचता है कोई प्रवृत्ति न करनी पड़े। फिर भी गमनागमन की प्रवृत्ति, वचनालाप की प्रवृत्ति, आहार ग्रहण करने की प्रवृत्ति, किसी वस्तु को रखने व उठाने की प्रवृत्ति, मलमूत्र विसर्जन करने की प्रवृत्ति आदि जो कोई भी प्रवृत्ति करता है उसमें सावधानी रखता है। इस प्रकार सावधानी पूर्वक प्रवृत्ति करना ही श्रमण का धर्म है।

वह श्रमण छह आवश्यक व सात विशेषगुणों के माध्यम से अपना समय धर्मध्यान के साथ व्यतीत करते हैं। महानुभाव! धर्मध्यान शुक्लध्यान का निमित्त/हेतु बनता है। सीधे शुक्लध्यान की प्राप्ति आज तक किसी को नहीं हुई। धर्म ध्यान के साथ ही शुक्लध्यान है, धर्मध्यान के साथ ही उपशम व क्षपक श्रेणी पर आरोहण संभव है, धर्मध्यान के माध्यम से ही कर्मों का नाश संभव हो सकता है।

अर्हद्वाणी जो कि द्वादशांग रूप वाणी है, जिसमें अनेकान्त धर्म का विवेचन है। अनेकान्त का आशय होता है एक वस्तु में अनेक धर्म हैं, और उसे कथन करने की शैली है स्याद्वाद् रीति। नय अपेक्षा कथंचित् वस्तु ऐसी है, कथंचित् वस्तु ऐसी है इस प्रकार यह अनेकांत धर्म ही धर्म के मर्म को जानने वाला है। यह धर्म ही आत्मा को शिवशर्म देने वाला है। धर्म ही कर्म को नष्ट करने वाला है इसलिए

व्यक्ति को दुष्कर्मों का त्याग करके सत्कर्म का सहारा लेना चाहिए और सत्कर्म को करते-करते धर्म में लीन होना चाहिए एवं धर्म में लीन होते-होते शिवशर्म को प्राप्त करने का बुद्धिपूर्वक प्रयास और पुरुषार्थ करना चाहिए।

आप और हम सभी यह धर्म भावना भाते हुए संसार सागर से इस धर्म की नाव पर बैठकर पार हो चलें। हमें पुरुषार्थ करना पड़ेगा क्योंकि भाग्य से मोक्ष तो आज तक किसी को नहीं मिला, और मिलेगा भी नहीं। इसलिए पहले पुरुषार्थ जरूरी है, सहजता जरूरी है और सहजता में ही डूब जाना हमारा परमात्मा हो जाना है। हम और आप अपनी आत्मा की नियति-प्रकृति को पहचान करके उसी मार्ग पर गमन करें, अनुसरण करें व आगे बढ़ें ऐसी मैं आपके प्रति भावना भाता हूँ और अपनी शब्द शृंखला को विराम देता हूँ।

।। श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ।।

धर्म भावना संबंधित उपयोगी श्लोक व गाथाएँ

यत्प्राणिनां जन्मजरोग्रमृत्युर्महा भयत्रास निराकृतानाम्।
भैषज्यभूतो हि दश प्रकारो धर्मो जिनानामिति चिन्तनीयम्॥31/97॥

—वरांग च., आ. जटासिंहनन्दि जी

जो वीतराग तीर्थंकर जन्म, जरा और मृत्यु से पार हो गये हैं तथा जिनको बड़े से बड़े सांसारिक भय तथा त्रास स्पर्श भी नहीं कर सकते हैं ऐसे कर्मजेता तीर्थंकरों का क्षमा आदि दश प्रकार का धर्म है। जन्म, जरा, मृत्यु तथा भय आदि से पराभूत प्राणियों की संसार व्याधि को शान्त कर सकता है।

याति सार्धं ततः पाति करोति नियतं हितम्।
जन्मपङ्कात् समुद्धृत्य स्थापयत्यमले पथि॥62॥

—ज्ञानार्णव, आ. शुभचन्द्र स्वामी जी

धर्म प्राणी के साथ परलोक में जाकर उसकी दुःख से रक्षा करता है, उसका सदा भला करता है और उसे संसार रूप कीचड़ से निकालकर निर्मल मोक्षमार्ग में स्थापित करता है।

णिच्छयणएण जीवो, सागारणगारधम्मदो भिण्णो।
मज्झत्थ भावणाए, सुद्धप्पं चिंतए णिच्चं॥82॥

—बा.अ., आ. कुंदकुंद स्वामी जी

निश्चयनय से जीव गृहस्थ धर्म और मुनिधर्म से भिन्न है, इसलिए दोनों धर्मों में मध्यस्थ भावना रखते हुए निरन्तर शुद्ध भावना का चिन्तवन करना चाहिए।

दु:खग्राहगणाकीर्णे संसार क्षार सागरे।
धर्मपोतं परं प्राहुस्तारणार्थे मनीषिण:।।6/57।।

– प. पंच., आ. पद्मनन्दि जी

विद्वान् पुरुष दु:ख रूपी हिंसक जलजन्तुओं के समूह से व्याप्त इस संसाररूपी घोर समुद्र में उससे पार होने के लिए धर्म रूपी नाव को उत्कृष्ट बताते हैं, इस प्रकार धर्म के स्वरूप का विचार करना धर्म भावना कहलाती है।

सुखार्थं चेष्टितं सर्वं तच्च धर्मनिमित्तकम्
एवं ज्ञात्वा जना यत्नात्, कुरुध्वं धर्मसंग्रहम्।।4/36।।

– पद्मपुराण, आ. रविषेण स्वामी

प्राणियों की समस्त चेष्टाएँ सुख के लिए हैं और सुख धर्म के निमित्त से होता है, ऐसा जानकर हे भव्य जन! तुम सब धर्म का संग्रह करो।

गन्तु कामो यथा पङ्गुर्मूको वक्तुं समुद्यत:।
अन्धो दर्शन कामश्च तथा धर्मादृते सुखम्।।38।। प.पु.

जिस प्रकार पंगु मनुष्य चलने की इच्छा करे, गूँगा मनुष्य बोलने की इच्छा और अन्धा मनुष्य देखने की इच्छा करे उसी प्रकार धर्म के बिना सुख प्राप्त करना है।

अहिंसा निर्मलं धर्मं सेवन्ते ये विपश्चित:।
तेषामेवोर्द्धवगमनं यान्ति तिर्यगधोऽन्यथा।।41।।प.पु.

जो विद्वज्जन अहिंसा से निर्मल धर्म की सेवा करते हैं, उन्हीं का ऊर्ध्वगमन होता है अन्य जीव तो तिर्यग्लोक अथवा अधोलोक में ही जाते हैं।

सम्मद्दंसण तुंषु दुवालसंगारयं जिणिंदाणं।
वयणेमियं जगे जयइ धम्मचक्कं तवोधारं॥1859॥

–भ.आ., आ. शिवकोटि जी

जिनेन्द्र का धर्मचक्र जगत् में जयशील होता है, सम्यग्दर्शन उसकी नाभि है, द्वादशांग उसके अर हैं, व्रत नेमि है और तप धारा अर्थात दूसरी नेमि है।

जह जीवो कुणइ रइं पुत्त कलत्तेसु कामभोगेसु।
तह जइ जिणिंदधम्मे तो लीलाए सुहं लहदि॥426॥

–का.अ., आ. कार्तिकेय जी

जैसे यह जीव पुत्र-कलत्र में तथा काय-भोगों में प्रीति करता है वैसे ही यदि जिनेन्द्रदेव के वीतराग धर्म से करे तो शीघ्र काल में ही सुख को प्राप्त हो जाता है।

धर्मश्चिन्तामणिर्लोके धर्मः कल्पतरुर्महान्।
धर्मोनिधिः सुसिद्धीनां धर्म संसार तारकः॥94॥

–सुधर्म ध्यान प्रदीप

इस संसार में यह दयामय धर्म चिन्तामणि रत्न के समान अथवा कल्पवृक्ष के समान है। यही धर्म समस्त सिद्धियों की निधि है और यही धर्म संसार से पार कर देने वाला है।

पुण्णं भोग-णिमित्तं, जो कल्लाण णिमित्तं अभव्वाण।
मोक्ख णिमित्तं धम्मं, भव्वा हु गहेदुं समत्था॥255॥

–अणुवेक्खासारो , आ. वसुनन्दी मुनि

अभव्यों के लिए पुण्य भोग का निमित्त है, कल्याण का निमित्त कदापि भी नहीं है। भव्य जीव ही मोक्ष के निमित्त धर्म को ग्रहण करने में समर्थ हैं।

द्वादशात्मक तपोरयंत्रितं, तत्त्वबोध रुचि वृत्तनेमिकम्।
धर्मचक्रमनवद्यमार्हतं,विष्टपेविजयतामनश्वरम्॥1956॥

– मरणकंडिका, आ. अमितगति जी

बारह प्रकार के तप रूपी आरों से जो नियंत्रित है, जो तत्त्वबोध और तत्त्वरुचि रूपी धुरा से युक्त है निर्दोष और अविनश्वर ऐसे अरिहन्त भगवान् का धर्म चक्र इस विश्व में सदा जयवन्त रहे।

धर्मो विश्व सुखप्रदोऽघहतको धर्मं व्यधुर्धार्मिका,
धर्मेणाशु विलभ्यते शिवपदं धर्माय मूर्ध्ना नमः।
धर्मान्नास्त्यपरः पितात्र हितकृद्धर्मस्य बीजं सुदृग्,
धर्मेऽहं विदधे मनः प्रतिदिनं हे धर्म मेऽघं हर॥15/134॥

–श्री पार्श्वनाथ चरितम्, आ. सकलकीर्ति जी

धर्म समस्त सुखों को देने वाला तथा पापों का नाश करने वाला है, धार्मिक-जन धर्म करते हैं, धर्म के द्वारा शीघ्र ही मोक्षपद प्राप्त होता है, धर्म के लिए शिर से नमस्कार हो, धर्म से भिन्न दूसरा हितकारी पिता नहीं है, धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है, मैं प्रतिदिन धर्म में मन लगाता हूँ, हे धर्म! मेरा पाप नष्ट करो।

चतुर्दशगुणस्थानानां गत्यादिचतुर्दशमार्गणास्थानेषु स्वतत्त्व- विचारलक्षणो धर्मः निःश्रेयसप्राप्तिहेतुरहो

भगवद्भिरर्हद्भिः स्वाख्यात इति चिंतनं धर्मस्वाख्यातत्वाऽनुप्रेक्षा। –चा.सा./श्री चामुंडराय जी कृत

गति आदि चौदह मार्गणास्थानों में चौदह गुणस्थानों के आत्मतत्त्व का विचार करना धर्म है। मोक्ष की प्राप्ति का उपाय भगवान् अरहंत देव ने ही बतलाया है। इस प्रकार चिंतवन करना धर्मस्वाख्यातत्त्वानुप्रेक्षा है।

धर्मो विश्वसुखाकरो दशविधो दुःखाखिला घातकः॥5/107॥

–श्री मल्लिनाथ पु., आ. सकलकीर्ति स्वामी

धर्म समस्त संसार के सुखों का स्थान है, उत्तम क्षमादि दस भेद वाला है एवं संसार के अन्दर जितने भी दुःख हैं उन सबका सर्वथा नाश करने वाला है।

अयं जिनोपदिष्टो धर्मोऽहिंसालक्षणः सत्याधिष्ठितो विनयमूलः। क्षमाबलो ब्रह्मचर्यगुप्त उपशमप्रधानी नियतिलक्षणो निष्परिग्रहतालम्बनः। अस्यालाभादनादिसंसारे जीवाः परिभ्रमन्ति दुष्कर्म विपाकजं दुःखमनुभवन्तः। अस्य पुनः प्रतिलम्भे विविधाभ्युदय प्राप्ति पूर्विका निःश्रेय सोपलब्धिर्नियतेति चिन्तनं धर्मस्वाख्यातत्त्वानुप्रेक्षा।

–स.सि., आ. पूज्यपाद स्वामी

जिनेन्द्र देव ने यह जो अहिंसालक्षण धर्म कहा है, सत्य उसका आधार है, विनय उसकी जड़ है, क्षमा उसका बल है, ब्रह्मचर्य से रक्षित है, उपशम की उसमें प्रधानता है, नियति उसका लक्षण है, परिग्रह रहितपना उसका आलम्बन

है। इसकी प्राप्ति नहीं होने से दुष्कर्म विपाक से जायमान दु:ख को अनुभव करते हुए ये जीव अनादि संसार में परिभ्रमण करते हैं। परन्तु इसका लाभ होने पर नाना प्रकार के अभ्युदयों की प्राप्तिपूर्वक मोक्ष की प्राप्ति होना निश्चित है, ऐसा चिंतवन करना धर्मस्वाख्यातत्त्वानुप्रेक्षा है।

क्षान्त्यादिलक्षणो धर्मः स्वाढ्यातो जिन पुंगवैः।
अयमालम्बनस्तम्भो भवाम्भोधौ निमज्जताम्॥6/42॥

–तत्वार्थ सार, आ. अमृतचंद्र सूरि

उत्तम क्षमादि रूप धर्म का सच्चा स्वरूप जिनेन्द्र भगवान् ने ही कहा है। संसार समुद्र में डूबते हुए प्राणियों को यही आश्रय देने वाला, उन्हें थामने वाला खम्भ है। इसी के सहारे प्राणी संसार समुद्र में डूबने से बचते हैं और पार होते हैं।

धर्मश्चापि जिनेन्द्राणां दुर्लभो भुवनत्रये।
क्षमादि दशधा नित्यं सुरासुर समर्चितः॥81॥

योददात्युत्तमं सौख्य लोकद्वय हितंकरः।
सोऽत्र भव्यैस्समाराध्यो भावि मुक्ति वधूवरैः॥10/82॥

–श्रीपाल चरित्र, आ. सकलकीर्ति जी

जिस प्रकार बोधि का पाना कठिन है उसी प्रकार देवों और असुरों से निरन्तर पूजनीय उत्तम क्षमादि दशधर्मों का पाना तीनों लोकों में दुर्लभ है। उभय लोक में वह धर्म ही एक मात्र जीव का हित करने वाला व सुख शांति देने वाला है। भविष्य में जो भव्यात्मा मुक्ति वधू का वरण करना चाहते हैं उन्हें इस सच्चे धर्म की आराधना करना चाहिए।

धर्म एष जिनभाषितः शिवप्राप्तिहेतुवधादि लक्षणः। त्यागतोऽस्य भवदुःखितेत्यनुप्रेक्षिकान्त्यशुभचिन्तनात्मिकाः।।63/90।।

–हरिवंश पुराण, आ. जिनसेन स्वामी जी

जिनेन्द्रदेव द्वारा कहा हुआ यह अहिंसादि लक्षण धर्म ही मोक्ष प्राप्ति का कारण है, इसका त्याग करने से संसार का दुःख प्राप्त होता है, इस प्रकार चिन्तवन करना अन्तिम धर्मानुप्रेक्षा है।

पुण्णं भोय-णिमित्तं, णो कल्लाणणिमित्तं अभव्वाण। मोक्ख-णिमित्तं धम्मं, भव्वा हु गहेदुं समत्था।।255।।

–अणुवेक्खा-सारो, आ. वसुनंदी मुनि

अभव्यों के लिए पुण्य भोग का निमित्त है, वह कल्याण का निमित्त कभी नहीं हो सकता है, भव्य जीव ही मोक्ष के निमित्त धर्म को ग्रहण करने में समर्थ होता है, इस प्रकार से चिन्तवन करना धर्म भावना है।

बारह भावना : उपसंहार

सुखकर बारह भावना, मानो आत्मप्रदीप।
उन सबने आश्रय लिया, मोक्ष गये जो जीव॥
मोक्ष गये जो जीव, जा रहे आगे जाएँ।
बारह भावन का ही फल, अब हम भी पाएँ॥
कहे सूरि वसुनंदी, आत्म का भोजन हितकर।
अतः भावना चिंतौ, जग में ये ही सुखकर॥

उपसंहार

महानुभाव!

जीवन में बारह भावनाओं का क्या महत्व है, बारह भावनाओं के बिना क्या जीवन सुखमय व्यतीत नहीं किया जा सकता? क्या बारह भावनाओं के बिना आत्मा का कल्याण संभव नहीं? क्या बारह भावनाओं के बिना मोक्ष उसी प्रकार है जिस प्रकार नीर से रहित नदी की दशा? बारह भावनाओं के बिना क्या मोक्षमार्ग मुर्दे की तरह है? क्या बारह भावनाओं के बिना सुख-शांति का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है? बहुत सारी जिज्ञासाएँ मन में उत्पन्न होती हैं। हाँ बात तो सत्य है, बारह भावनाएँ जिनमें द्वादशांग का सार है। जो बारह भावनाएँ व्यक्ति को अपने सत्व से परिचय कराती हैं, आत्मतत्त्व से परिचय कराती हैं, आत्मा के स्वभाव का विशेष रूप से भान कराती हैं और इतना ही नहीं बारह भावनाएँ इस प्राणी को संसार के समस्त पदार्थों का यथार्थ दिग्दर्शन करा करके उन पदार्थों से वैराग्य की उपलब्धि भी कराती हैं और अपने शाश्वत द्रव्य के प्रति धर्मानुराग भी तथा संसार के किन्हीं पदार्थों के प्रति माध्यस्थ भाव भी उत्पन्न कराती हैं। ये बारह भावना जो मोक्षमार्ग में कल्याणकारी व सहकारी हैं; अभव्य प्राणी के जीवन में निष्पन्न नहीं होती। जैसे कौवे को अंगूर खाने को नहीं मिलते, दाख (अंगूर) जब पकता है तब काक के कंठ में रोग हो जाता है, उसी प्रकार हीन पुण्यात्मा के जीवन में बारह भावनाओं की प्रस्तुति नहीं होती।

कर्महीन को ना मिले, भली वस्तु का योग।
दाख पके तब होत है, काक कंठ में रोग॥

ऐसे ही दीर्घकाल तक जिसे संसार में परिभ्रमण करना है जिसे चिरकाल तक जन्म-मरण के दु:खों को भोगना है, जो पाप में सना हुआ है, पाप कार्य में लिप्त है, जो अज्ञानी है, मोही मिथ्यादृष्टि है ऐसा व्यक्ति बारह भावनाओं का चिन्तवन नहीं कर सकता। इसीलिए तो कहा है–

मुनि सकलव्रती बड़भागी भव भोगन तें वैरागी।
वैराग्य उपावन माही चिन्त्यौ अनुप्रेक्षा भाई॥

ये बारह भावनाएँ मुनिराज भाते हैं। बारह भावना मुनि बनने वाले भाते हैं। ये बारह भावनाएँ क्या हैं? ये बारह भावनाएँ वैराग्य की जननी हैं, व्रती जीवन स्वीकार करने के लिये संबल हैं। ये बारह भावनाएँ मोक्ष-मार्ग का आलंबन हैं, ये बारह भावनाएँ वैराग्य का प्राण हैं, ये बारह भावना चारित्र की आधारशिला हैं। इन बारह भावनाओं के माध्यम से धर्मध्यान वृद्धि को प्राप्त होता है। ऐसा नहीं समझना कि बारह भावना व्रती व्यक्ति भाये, वैराग्य और संयम को प्राप्त करने से पहले यह तो अव्रती भी भा सकता है, व्रती को भी भाना चाहिए और अव्रती को भी इसका चिंतन छोड़ना नहीं चाहिए।

बारह भावनाओं का जो व्यक्ति जितना चिंतन करता चला जाएगा त्यों-त्यों वैराग्य निर्मल होता चला जाएगा, त्यों-त्यों वैराग्य की वृद्धि होती चली जाएगी और वैराग्य की वृद्धि एक ओर जहाँ सम्यक्त्व को निर्मल बनाती है

वहीं दूसरी ओर चारित्र में दृढ़ता प्रदान करती है। वैराग्य की वृद्धि सम्यक्त्व को दृढ़ बनाती है, धर्म के प्रति तीव्र अनुराग को पैदा करने वाली होती है और उस वैराग्य के माध्यम से शरीर के प्रति ममत्व भाव नष्ट होता है। उस वैराग्य से निष्पन्न हुई भावनाओं के माध्यम से भोगों के प्रति अनाकांक्षा का भाव और यूँ कहें भोगों के प्रति विद्वेष जैसी बात उत्पन्न हो जाती है। जैसे कोई पिंजरे में बंद पक्षी, जिसे यह ज्ञान हो जाए कि पिंजरे में रहना मेरा स्वभाव नहीं है, यदि वह मुक्त आकाश में उड़ते हुए किसी पक्षी को देख ले तो वह भी यह सोचता है कि कब पिंजरे का दरवाजा खुले और मैं भी मुक्त आकाश में गमन करूँ। ऐसे ही वह सम्यग्दृष्टि बारह भावनाओं का चिन्तवन करते हुए इस प्रकार की तीव्र भावना से युक्त हो जाता है कि संसार के बंधनों को तोड़कर कब मैं स्वकीय निज शाश्वत वैभव को प्राप्त कर सकूँ।

ये बारह भावनाएँ कौन भाते हैं? मुनिराज भी भाते हैं, देशव्रती श्रावक-श्राविका भी भाते हैं। इन भावनाओं को अव्रती सम्यग्दृष्टि भी भाते हैं; जिससे उनके जीवन में वैराग्य हो। ये बारह भावनाएँ संयमरूपी महल में चढ़ने के लिये सीढ़ियों की तरह से हैं। ये बारह भावनाएँ कैसी हैं? ये बारह भावनाएँ आत्मा में लीन रहने के लिये एक ए.सी. रूम (A.C. Room) की तरह से हैं, किले में बैठे राजा के लिये दुर्ग की तरह से हैं। ये बारह भावनाएँ कैसी है? ये बारह भावनाएँ वीतरागता की सृजग हैं क्योंकि इन बारह

भावनाओं का चिन्तवन करने से वैराग्य की निष्पत्ति होती है और वैराग्य ही वीतरागता में ढल जाता है। वैराग्य अंकुर का नाम है, छोटे पौधे का नाम है और बारह भावना बीज की तरह से हैं, उस बीज के माध्यम से अंकुर पैदा होता है। वह अंकुर ही बढ़ते-बढ़ते पौधा बन जाता है, वृक्ष बन जाता है। वह वैराग्य का अंकुर वह बीज ही वीतराग बन जाता है और वीतरागता का दूसरा नाम है अनंतसुख की प्राप्ति।

मोहनीय कर्म ज्यों-ज्यों विगलित होता है त्यों-त्यों जीवन में चारित्र आता चला जाता है। जब चारित्र की पूर्णता हो जाती है, मोहनीय कर्म की सम्पूर्ण प्रकृतियाँ नष्ट हो जाती हैं उसी समय आत्मा में अनंतसुख की प्राप्ति होती है।

महानुभाव! वैराग्य भावना अलग से भी है, जिसमें संसार का वर्णन दिया है, जिसमें दिया है शरीर की यथार्थ स्थिति, जिसमें दिया है भोगों का कारण और भोगों का कार्य। उससे भी भव्य प्राणियों को वैराग्य की संवृद्धि होती है। किन्तु ये बारह भावनाएँ जिस प्रकार निबद्ध की हैं ऐसा समझिये द्वादशांग का सार ही आ गया। बारह भावना भाते समय, अब आपको अलग से तेरहवीं भावना भाने की आवश्यकता नहीं है, कोई कहे कि क्या ग्यारह भायें तो पाप लगेगा? एक भावना जहाँ पूर्णतया होती है, ग्यारह भावना भी वहाँ गौण रूप से रहती हैं। कभी किसी भावना की मुख्यता होती है, किन्तु भावनाएँ बारह सब रहती हैं। कभी अनित्य भावना की मुख्यता है तो कभी अशरण भावना की किन्तु अभाव किसी का नहीं है। जैसे कोई ट्रेन रेल की पटरी पर

चल रही हो, उस ट्रेन में जितने भी आवश्यक उपकरण होने चाहिए वे सब उसमें हैं किन्तु जिस समय आप इंजन को देख रहे हो उस समय आप पहियों को नहीं देख रहे, पहिये को देख रहे हो तब इंजन को नहीं, कभी डिब्बा देख रहे हो तो कभी कुछ और, एक साथ सभी बिन्दुओं पर दृष्टिपात नहीं किया जा सकता। एक समय में एक ही वस्तु का अवलोकन किया जा सकता है। यूँ तो प्रत्येक वस्तु में अनेक विशेषता, गुण, धर्म होते हैं किंतु सभी गुण, धर्म, विशेषताओं व लक्षणों को एक साथ नहीं जान सकते। यह अनेकांत है। अनेकांत को समझने का मार्ग है स्याद्वाद।

महानुभाव! जब व्यक्ति एक-एक अनुप्रेक्षा के चिंतन में डूबता चला जाता है तब वह आत्मा का अवलोकन करने में समर्थ हो जाता है। यूँ कहे ये बारह खिड़कियाँ हैं जिनके माध्यम से आत्मा में झांका जा सकता है। चाहे किसी भी खिड़की को खोलकर देख लिया जाए, एक समय में उपयोग एक जगह ही रहेगा। एक खिड़की खोल दी तो उस समय वह उसी चिंतन में डूब गया, उस भव्य योगी पुरुष को लगेगा कि आत्मा का स्वभाव समझ में आ गया।

अनित्य भावना के माध्यम से जहाँ पर अध्रुव पर्यायों से विरक्ति का भाव आता है वहीं पर अनित्य भावना के माध्यम से अपनी ध्रुव आत्मा का भी भान होता है, फिर अपनी ध्रुव आत्मा को बचाने का भाव आता है कि मेरी ध्रुव आत्मा संसार में बार-बार इन अध्रुव पर्यायों को क्यों प्राप्त हो रही है, इन अध्रुव पर्यायों को प्राप्त करके जन्म-मरण

का शिकार क्यों हो रही है, ये आत्मा जन्म से मृत्यु, मृत्यु से जन्म के तट पर क्यों घूम रही है? ये मेरा आत्मा शाश्वत है और शक्ति की अपेक्षा से शुद्ध है; फिर इस माँस पिण्ड में क्यों सड़ रही है? मेरी आत्मा को अपने स्वभाव को प्राप्त हो जाना चाहिए क्यों नहीं हो पा रही? क्योंकि मेरी दृष्टि आज तक शाश्वत आत्मा के प्रति गई ही नहीं। अशाश्वत, अथिर, अध्रुव, अनित्य वस्तुओं में अपनत्व की बुद्धि हो गई इसलिए मेरा उपयोग वहाँ नहीं गया। एक समय में उपयोग एक जगह ही रहता है। यदि उपयोग आत्मा की ओर है तो अनात्मा की ओर नहीं है, जब उपयोग अनात्मा की और है तो आत्मा की ओर नहीं है। जब शाश्वत आत्मद्रव्य पर दृष्टि है तब अशाश्वत पर्यायों पर दृष्टि नहीं है। अनादिकाल से हमने पर्यायों पर दृष्टि तो रखी किन्तु शाश्वत आत्मा पर दृष्टि नहीं रखी इसलिए इन नश्वर पर्यायों से दृष्टि को हटाओ।

दृष्टि को कैसे हटाओ? इन्हें नश्वर मान लो, ये तुम्हारे नहीं हैं। तुम इनके नहीं हो। जब व्यक्ति को ये भान हो जाता है कि ये वस्तु मेरी नहीं है तब उस वस्तु के प्रति राग भी कम हो जाता है।

महानुभाव! अध्रुव भावना के माध्यम से जानने के बाद पुनः आपके मन मे भाव आया कि मैं क्या करूँ? कर्म मुझे परेशान करता है, जब अच्छा करने का भाव मन में आता है तब तक मृत्यु आ जाती है, मैं कुछ कर ही नहीं पाता। मैं सोचता हूँ भोगों से तृप्त होकर के पुनः अपना कल्याण

करूँगा किन्तु मृत्यु आकर पकड़ लेती है। अब कैसी जगह जाऊँ? किसके पास जाऊँ, जहाँ पर मेरी मृत्यु न हो? अशरण भावना के माध्यम से संकेत किया कि कहीं जाने की आवश्यकता नहीं है, जो बाहर भटक रहे हैं वे बाहर भटकते ही रहेंगे, उन्हें शाश्वत ठौर नहीं मिलेगी और जो अपनी आत्मा को खोज लेते हैं, अपनी आत्मा की शरण में पहुँच जाते हैं, अपनी आत्मा को पहचान लेते हैं, वे कभी संसार मे अशरण नहीं होते, उन्हें कभी शरण खोजने की आवश्यकता नहीं पड़ती। किन्तु वह दशा तब प्राप्त होती है जब उससे पहले संसार का सही अवलोकन हो जाए। संसार है क्या? इस संसार से मुझे विरक्त क्यों होना है?

वह संसार के बारे में सोचता है, यह पंच परावर्तन द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव ये पाँच प्रकार के संसार हैं। यह जीव अनादि काल से पंचपरावर्तन करता चला आ रहा है। क्यों करता चला आ रहा है? क्योंकि इसने आज तक अपनी एकत्व आत्मा को नहीं जाना। संसार में रहता है, कहता है मन नहीं लगता, मेरा कोई साथी होना चाहिए, दूसरा साथी खोजता है, उसने धोखा दे दिया तो तीसरा ढूँढ़ता है, उसने भी धोखा दे दिया तो चौथा खोजता है। ऐसे साथियों को खोजता रहता है और साथियों से अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहता है किन्तु हमारी आत्मा का स्वार्थ तो आत्मा से सिद्ध होगा, परपदार्थों से नहीं होगा। वह काम तभी किया जा सकता है जब आत्मा के एकत्व स्वभाव को जान लिया जाए। ये आत्मा स्वयं में पूर्ण है किन्तु एकत्व स्वभाव को जानने के लिए आवश्यक है परवस्तुओं का त्याग।

परवस्तुओं का त्याग तब होगा जब 'अन्यत्व भाव' आत्मा में आ जाए। ये वस्तु मुझसे अन्य है, यह मेरी नहीं है, वह भी मेरी नहीं है। जैसे कोई व्यक्ति भूलवश दूसरे के खेत की रखवाली कर रहा था उसे ज्ञात हुआ ये खेत तो मेरा है ही नहीं, अरे! मेरी फसल तो वो है जिसे पशु-पक्षी चर रहे हैं। भान होते ही तुरंत छोड़कर भागकर आता है। एक उदाहरण आचार्य की कुन्दकुन्द स्वामी जी ने दिया—कि जब तक व्यक्ति को अपने आत्मा की पहचान नहीं होती तब तक पर-पदार्थों की पर्यायों में लीन हो जाता है किन्तु जैसे ही पहचान होती है उसे छोड़ देता है। एक व्यक्ति के पास भूल से दूसरे व्यक्ति का वस्त्र आ गया उसने उसे पहन लिया। पहले व्यक्ति ने देखा कि ये मेरा वस्त्र पहने हुए है, और कहा ये वस्त्र तो मेरा है दीजिये इसे। वह बोला तुम्हें कैसे पता ये तुम्हारा ही है, उस व्यक्ति ने अपने वस्त्र की अमुक-अमुक पहचान बता दी, वह व्यक्ति मान गया कि ये वस्त्र इसी का है; किन्तु वह बोला फिर मेरा वस्त्र कहाँ है, खोजता है और जाता है धोबी के पास, वहाँ उसे अपना वस्त्र मिल जाता है। जैसे ही उसे अपना वस्त्र मिल गया वह तुरंत ही दूसरों के वस्त्रों को उतारकर फेंक देता है। ऐसे ही आत्मा को जब अपना आत्मा मिल जाता है, अपना स्वभाव मिल जाता है, स्वयं के गुण-धर्म मिल जाते हैं तो पर वस्तु के गुणधर्म तो वह दूर से त्याग देता है, उनसे विरक्त हो जाता है। इस अन्यपने का भान हुए बिना एकत्वपना भी पूर्ण रूप से नहीं आता।

अन्यत्वपने का भान करने के लिए सबसे बड़ा निमित्त कारण है 'अशुचि भावना'। इस शरीर के प्रति उसे लगे कि वास्तव में ये शरीर शुद्ध नहीं है, इस शरीर को चाहे कितनी ही बार नहलाओ-धुलाओ 'ये नित गंग जमुन समुद्र न्हाये' फिर भी शुद्ध नहीं हो सकता।

पल रुधिर राध मल थैली, कीकस वसादि ते मैली।
नवद्वार बहे घिनकारी, अस देह करे किमि यारी॥

इस शरीर में खून, मज्जा, माँस, मेदा इत्यादि पदार्थ भरे पड़े हैं चर्बी आदि भरी है, इसे शुद्ध नहीं किया जा सकता। किसी पॉलीथिन में मल भरा हुआ है उस पॉलीथीन को ऊपर से धोते जाओ तो धोने मात्र से वह शुद्ध थोड़े ही हो गई। यदि गंदी वस्तु कहीं शुद्ध स्थान पर चौके आदि में आ जाए तो आप कहेंगे अरे! सब कुछ अपवित्र हो गया। तो अपना शरीर भी तो मल से भरी पिटारी है। जब इसे समझ लेते हैं तब इस शरीर के प्रति ममत्व भाव नहीं रहता। अशुचि भावना के माध्यम से विरक्ति का भाव आता है। जब शरीर के प्रति विरक्ति का भाव आता है तब समझ में आता है कि किसी दूसरे के साथ भोग भोगने में आत्मा का सुख नहीं है, आत्मा का आनंद नहीं है। यह शरीर क्रीड़ा कर रहा है, ये सब तो पुद्गल की क्रीड़ा है, इसके माध्यम से केवल पुद्गल का ही नाश होता है।

पुनः यह जीव चिन्तवन करता है कि मेरा यह आत्मा संसार में परिभ्रमण क्यों कर रहा है? ओह! मिथ्यात्वादि कर्मों के कारण आस्रव हो रहा है, इन कर्मों से आत्मा बंधा

चला जा रहा है, इनको रोकना है। वह तुरंत सावधान होता है और कर्मों को रोकने का उपाय करता है, शत्रुओं को रोकने का उपाय करता है। पुण्य-पाप का जो आस्रव हो रहा था, बंध हो रहा था उसे रोकने का प्रयास करता है, जब नहीं रोक पाता है तो फिर वह सोचता है कि पाप से पहले बचो। जिस खिड़की से बदबू आ रही उस खिड़की को बंद कर दो, जिससे पुष्पों की सुगंधि आ रही है उसे खोल दो। वह पुण्य के बंध को स्थान देता है, पाप कर्म नष्ट करता है। शनैः-शनैः उसकी (पुण्य की) आवश्यकता नहीं होती तो बंद कर देता है। तो आस्रव को रोकने का नाम है संवर। किन्तु जो बदबू आदि पहले से ही हॉल में भर गई उसे रूम फ्रेशनर आदि के माध्यम से दूर करता है या अन्य प्रकार से शुद्ध करता है। यानि निर्जरा हो गई। आत्मा में जो शत्रु आकर के बस गए थे उन शत्रुओं को निकालकर बाहर फेंक दिया, यानि निर्जरा हो गई।

निर्जरा को प्राप्त कर सोचता है अब बस। लोक का चिंतन करता है, मेरी आत्मा तो शाश्वत है, ध्रुव है, अब आत्मा कहीं भी रहे, कर्मों से रहित होकर लोक के किसी भी भाग में रहे कोई फर्क नहीं पड़ता। वह आत्मा लोक के अग्र भाग पर जाकर विराजमान हो जाती है। यदि कर्मों से सहित होकर के लोक के अग्रभाग में जाकर विराजमान होती है तब भी संसार का जन्म-मरण छूटता नहीं। मोक्ष लोकाग्र पर नहीं, मोक्ष तो आत्मा के प्रदेशों में है। जब आत्मा कर्मों से रहित होती है तो मोक्ष हो जाता है।

पुनः यह बात उसे बार-बार स्मरण में आती है कि संसार में यदि दुर्लभ कोई चीज है तो वह है बोधि

'रत्नत्रय'। रत्नत्रय का दूसरा नाम है धर्म। वह बोधि-धर्म बहुत दुर्लभ है। उसे अपनी आत्मा में प्रगट करता है। वह उसे बाहर से ग्रहण नहीं करता, बाहर से ग्रहण किया जाता है व्यवहार में। जैसे कोई व्यक्ति अपने खेत में कुआं खोदे, मिट्टी सूखी हो तो बाहर से थोड़ा पानी डालता है। मिट्टी थोड़ी गीली हो जाती है तो खोदने में सुविधा होती है। किन्तु बाहर से डाले हुए पानी से कुएँ नहीं भरते हैं, यानि जो नीचे से निकलता है वही शाश्वत है, ऐसे ही आत्मा में पहले व्यवहार धर्म का आरोपण करता है, बाद में वह धर्म आत्मा से प्रकट होता है। पहले आत्मा के बारे में समझता है, विचार करता है। उस स्वभाव को जिनने प्राप्त कर लिया है उनका चिन्तवन करता है, अवलोकन करता है। सामने वाले व्यक्ति ने अपनी वस्तु प्राप्त कर ली तो हमें भी अपनी वस्तु खोजने की भावना जगती है। फिर हम भी अपनी वस्तु को खोजने के लिए प्रयासरत हो जाते हैं। इसी का नाम है व्यवहार मोक्षमार्ग।

व्यवहार मोक्षमार्ग में लगा व्यक्ति निश्चय मोक्षमार्ग को प्राप्त कर सकता है। जो किसान अपने खेत में कुआँ खोद रहा है, गड्ढा खोद रहा है, वह व्यवहार क्रिया है। बाद में जब नीचे पहुँच जाएगा तो समझो निश्चय में पहुँच गया, अब बाहर से पानी डालने की आवश्यकता नहीं है।

महानुभाव! ये बारह भावनाएँ प्रत्येक आत्महित के आकांक्षी भव्य प्राणियों को नित्य ही सेवन करना चाहिए। जैसे प्राणवायु को नित्य सेवन करना चाहिए अन्यथा शरीर मर जाएगा। ऐसे ही धर्मात्मा को, वैरागी को, आत्महित के आकांक्षी को नित्य बारह भावनाओं का सेवन करना चाहिए।

जिस प्रकार आरोग्य के लिये प्रात:काल की धूप अच्छी होती है उसी प्रकार वैरागी के लिए बारह भावनाओं का चिन्तवन भी बहुत आवश्यक है। आप और हम सभी इन अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन निरंतर कभी भी कर सकते हैं। स्थान और समय निश्चित नहीं है। जब कभी भी आपका मन अच्छा हो इनका चिन्तवन करना चाहिए; जिससे और अच्छा मन होता जाएगा, आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त होगा। हम आप सभी के प्रति ऐसी शुभ भावना भाते हैं कि इन बारह भावनाओं का चिंतवन निरंतर आपकी आत्मा में होवे और आप अपने निज गुण-धर्म को प्राप्त कर सकें इन्हीं सद्भावनाओं के साथ।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

उपसंहार संबंधित उपयोगी श्लोक व गाथाएँ

इत्येवमाद्या अनुचिन्तनीया प्रोक्ता यथार्थाः क्रमशो विचिन्त्य।
प्रसन्नचेता विनिवृत्ततृष्णः समाहितः संयतवाक्प्रचारः॥31/98॥

—वरांग च., आ. जटासिंहनन्दि जी

यें सब बारह भावनाएँ निःश्रेयस पाने के लिए उत्सुक व्यक्तियों को सदा ही चिन्तवन करना चाहिए इसीलिए इसका सत्य और विशद स्वरूप शास्त्रों में कहा गया है, ऐसा मन ही मन समझकर राजर्षि का चित्त पुलकित हो उठा था। उनकी सब प्रकार की तृष्णाएँ शान्त हो गई थी, अपनी आराधना में वे चैतन्य हो गये थे तथा वचन आदि प्रचार भी पूर्ण नियंत्रित हो गया था।

विध्याति कषायाग्निर्विगलति रागो विलीयते ध्वान्तम्।
उन्मिषति बोधदीपो हृदि पुंसां भावनाभ्यासात॥92॥

—ज्ञानार्णव, आ. शुभचन्द्र जी

इन बारह भावनाओं के अभ्यास से जीवों की कषायरूप अग्नि शांत हो जाती है, राग नष्ट हो जाता है, अज्ञानरूप अंधकार विलीन हो जाता है तथा हृदय में ज्ञानरूप दीपक विकसित होता है।

किं पलविएण बहुणा जे सिद्धा णरवरा गये काले।
सिज्झिहदि जेवि भविया तं जाणह तस्स माहप्पं॥90॥

—बा. अ., आ. कुंदकुंद स्वामी जी

बहुत कहने से क्या लाभ है? भूतकाल में जो श्रेष्ठ पुरुष सिद्ध हुए हैं और जो भविष्यत् काल मे सिद्ध होवेंगे उसे अनुप्रेक्षा का महत्व जानो।

अनुप्रेक्षा इमा सद्भिर्द्वादशैव निरन्तरम्।
वैराग्य वृद्धये ध्येया रागहान्यै शिवंकराः॥103॥

–मूलाचार प्रदीप, आ. सकलकीर्ति जी

विद्वान पुरुषों को अपना वैराग्य बढ़ाने के लिए व रागद्वेष नष्ट करने के लिए इन बारह भावनाओं का निरंतर चिन्तवन करते रहना चाहिए, ये अवश्य मोक्ष प्रदान करने वाली हैं।

निरुपम गुण खानी मोंक्ष लक्ष्मी सखीश्च,
जिनवर मुख जाताः सेविताः श्री गणेशैः।
दुरित गिरिविधाते वज्रधाराः सदैव,
प्रभजतशिवकामा भावना द्वादशैताः॥105॥ मू.प्र.

ये 12 भावनाएँ अनुपम गुणों की खानि हैं, मोक्षलक्ष्मी की सखी हैं भगवान् जिनदेव के मुख से उत्पन्न हुई हैं तथा गणधर देवों ने इनकी सेवा की है और पाप रूपी पर्वतों को चूर-चूर करने के लिए वज्र की धारा के समान हैं। अतएव मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों को इन 12 भावनाओं का चिन्तवन सदा करते रहना चाहिए।

अनुप्रेक्षा इमाः सद्भिः सर्वदा हृदये धृताः।
कुर्वते तत्परं पुण्यं हेतुर्यत्स्वर्ग मोक्षयोः॥6/58॥

–प.पंच., आ. पद्मनन्दि जी

सज्जनों के द्वारा सदा हृदय में धारण की गई ये बारह अनुप्रेक्षाएँ, उस उत्कृष्ट पुण्य को करती हैं जो कि स्वर्ग और मोक्ष का कारण होता है।

इय आलंबण मणुपेहाओ धम्मस्स होंतिज्झाणस्स।
ज्झायंतो ण वि णस्सदि ज्झाणे आलंबणेहिं मुणी॥1868॥

—भ.आ., आ. शिवकोटि जी

इस प्रकार अनुप्रेक्षा धर्मध्यान का आलम्बन होती हैं, ध्यान करने वाला साधु हृदय में निमित्त-आलम्बनों का आश्रय लेने से ध्यान से च्युत नहीं होता, जो जिस वस्तु के स्वरूप में अपने मन को लगाता है वह उस वस्तु के यथार्थ स्वरूप से च्युत नहीं होता क्योंकि वह उसे भूलता नहीं है।

अनुप्रेक्षाः हि भावयन्नुत्तमसमादींश्च प्रतिपालयति परीषहांश्च जेतुमुत्सहते। —स.सि., आ. पूज्यपाद स्वामी

अनुप्रेक्षाओं का चिन्तवन करता हुआ यह जीव उत्तमक्षमादि का ठीक तरह से पालन करता है और परीषहों को जीतने के लिए उत्साहित रहता है।

जिण आगमस्स सारो, चेयणाए हु गुणाण माहारो।
जस्स मणे अणुवेक्खा, कहं तस्स भवभयं हवेदि॥290॥

— अणुवेक्खासारो, आ. वसुनंदी मुनि

निश्चय से ये अनुप्रेक्षा जिनागम का सार, चेतना के गुणों का आधार है। जिसके मन में अनुप्रेक्षा है उसके संसार का भय कैसे हो सकता हो अर्थात् नहीं होता।

इंधणं णस्सिदुं जह विज्जदे अग्गी तिरिच्छ-लोयम्मि।
दिवायरो तिमिरं भव-णासेदुमणुवेक्खासारो॥291॥

–अणुवेक्खा-सारो, आ. वसुनंदी मुनि

जिस प्रकार ईंधन को नष्ट करने के लिए तिर्यक्लोक में अग्नि विद्यमान है, अंधकार को नष्ट करने के लिए सूर्य है उसी प्रकार संसार को नष्ट करने के लिए अनुप्रेक्षासार है। अतः सदैव इसका चिन्तवन करना चाहिए।

सव्ववियारं हरदे अणुवेक्ख-चिंतणं णिराउलदाइ।
जह तह रोय-मोसही रयणत्तयं हरदि कम्माणि॥292॥

–अणुवेक्खा-सारो, आ. वसुनंदी मुनि

जिस प्रकार औषधि रोग को हरती है, रत्नत्रय कर्मों को हरता है उसी प्रकार निराकुलता से अनुप्रेक्षाओं का चिंतन सर्व विकारों को हरता है।

एवं भावयतः साधोर्भवेद्धर्ममहोद्यमः।
ततो हि निष्प्रमादस्य महान् भवति संवरः॥6/43॥

–तत्त्वार्थ सार, आ. अमृतचंद्र सूरि जी

इस प्रकार बारह अनुप्रेक्षाओं का चिन्तवन करने से साधु के धर्म का महान् उद्यम होता है–धर्म में साधु दृढ़ होता है, धर्म की रक्षा करने में और उसकी वृद्धि में महान् उद्यम करने लगता है। ऐसा करने से उस तपस्वी के प्रमाद दूर हो जाते हैं और प्रमाद रहित होने से कर्मों का महान् संवर होता है।

इत्येता हृदि चिन्तयन्त्यनुदिनं मुक्तेः सुसख्योप्यनु-
प्रेक्षा येऽत्र पलायतेऽघसहितो रागश्च तेभ्यः खलः।
तन्नाशाच्च विजायतेऽति परमो निर्वेद एवाघहृन्-
निर्वेदात्तप एव दुःकरमतस्तेषां शिवोऽघक्षयात्॥15/135

–श्री पार्श्वनाथ चरितम्, आ. सकलकीर्ति जी

मुक्ति की सखी स्वरूप इन अनुप्रेक्षाओं का जो प्रतिदिन हृदय में चिन्तन करते हैं उनके समीप से पाप सहित रागरूपी दुर्जन भाग जाता है, राग के नष्ट हो जाने से पाप को नष्ट करने वाला अत्यन्त उत्कृष्ट वैराग्य ही उत्पन्न होता है, वैराग्य से कठिन तप प्राप्त होता है और तप से पापों का क्षय होकर मोक्ष प्राप्त होता है।

सकलगुणनिधानाः सर्वसिद्धान्तमूला,
जिनवरमुनिसेव्या रागपापारिहन्त्रीः।
शिव गति सुखखानीः सिद्धयेर्मुक्तिकामा,
अनवरतमनुप्रेक्षा भजध्वं प्रयत्नात्॥15/136

–श्री पार्श्वनाथ चरितम्, आ. सकलकीर्ति जी

जो समस्त गुणों की निधान हैं, समस्त सिद्धान्तों की मूल हैं, जिनेन्द्रदेव तथा बड़े-बड़े मुनियों के द्वारा सेवनीय हैं, राग और पापरूपी शत्रु को नष्ट करने वाली हैं और मोक्षगति के सुखों की खान हैं, ऐसी अनुप्रेक्षाओं का हे मोक्षाभिलाषी जीवो! मोक्ष के लिए निरन्तर प्रयत्नपूर्वक चिन्तन करो।

''एवमस्य चिंतयतो धर्मानुरागः सदा प्रतिपन्नो भवति। इत्येवं चिन्तनं संस्थानविचयमष्टमं धर्म्यं''।

–चारित्रसार, चामुंडराय जी कृत

इस प्रकार इन अनुप्रेक्षा के चिन्तवन करने से धर्मानुराग सदा बढ़ता रहता है। इस प्रकार बारह अनुप्रेक्षाओं का चिन्तवन करना संस्थानविचय नाम का आठवाँ धर्म्यध्यान है।